# कनिष्क की तिथि*

श्रीराम गोयल

कुषाण सम्राट् प्रथम कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि भारत और मध्य एशिया के इतिहास की सर्वाधिक विवादग्रस्त समस्याओं में से एक है। इसका महत्व न केवल कुषाण इतिहास की दृष्टि से है वरन् इसके सही समाधान पर ही शक-सम्वत् के प्रवर्तक की पहिचान, शक-सातवाहन तिथिक्रम, प्राचीनतर खरोष्ठी अभिलेखों में प्रयुक्त सम्वत् की पहिचान, भारत के अन्य अधिकाश विदेशी राजाओं का तिथिक्रम व अन्य अनेक समस्याओं के हल प्रत्यक्षत अथवा परोक्षत निर्भर हैं। अब, यह प्रश्नातीत रूप से निश्चित है कि कुषाणों ने मौर्य-शुङ्गकाल के उपरान्त परन्तु गुप्त युग के पूर्व शासन किया था। परन्तु इस बीच मे प्रथम कनिष्क ने, जो मुद्राओं और अभिलेखों से ज्ञात 'कनिष्क वर्ग' के नरेशों मे प्रथम था और जिसके राज्यारोहण से उसके उत्तराधिकारियों द्वारा प्रयुक्त सम्वत् की गणना प्रारम्भ हुई, कब शासन करना आरम्भ किया यह निश्चित करना टेढ़ी खीर है। एक शती से अधिक समय हुआ जब प्रथम कनिष्क के सिक्के पहली बार प्रकाश मे आए थे। उस समय से लेकर अब तक उसकी तिथि पर सैकड़ों शोध-निबन्ध लिखे जा चुके हैं जिनमे उसकी तिथि ५७ ई० पू० से लेकर २७८ ई० के बीच मे सुझाई गई है। इतना ही नही ऐसे भी उदाहरण ज्ञात हैं जब एक ही विद्वान् ने इस विषय मे कई-कई मत रखे है। उदाहरणार्थ, स्मिथ ने कनिष्क की तिथि १८८९ मे ७८ ई० सुझाई, १९०३ मे १२५ ई०, १९११ मे ७८ ई० और १९१९ मे १२० ई०। वान विजक ने उसकी तिथि १९२५ मे १३४ ई० मानी, १९२७ मे १२८–९ ई०, १९३२ मे १३० ई०, १९४७ मे १३८ ई० और अन्त मे २०० ई०। इन दो उदाहरणों से ही इस समस्या की जटिलता स्पष्ट हो जाती है। अत. इसे सुलझाने के लिए लन्दन की 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के तत्वाधान मे १९१३ ई० के जून मास मे एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमे एफ० डब्ल्यु० टॉमस, ई०जे० रेप्सन, जे० एफ० फ्लीट, विन्सेण्ट स्मिथ, एल०डी० बार्नेट, लॉंगवर्थ डेम्स, जे० कैनेडी तथा आर०बी० ह्वाइटहैड आदि ने भाग लिया (जे०आर०ए०एस०, १९१३,२, पृ० ९११–१०४२)। यह सम्मेलन इस समस्या को

---

* प्रोफेसर ए० एल० बैशम द्वारा सम्पादित पेपर्स ऑन दि डेट ऑव कनिष्क, १९६८ (ई०जे०ब्रिल, लीडेन), पर आधारित।

सुलझा तो नही सका परन्तु इससे इतना पर्याप्त स्पष्ट हो गया कि फ्लीट, वार्नेट, लॉंगवर्थ डेम्स और कैनेडी आदि का यह मत कि कनिष्क वर्ग के राजाओ ने कडफिसिज़ वर्ग के पूर्व शासन किया था और प्रथम कनिष्क परवर्ती युग मे 'मालव' और 'विक्रम' नामो से पुकारे जाने वाले सम्वत् का प्रवर्तक था, गलत है, यद्यपि इसके बाद भी कुछ विद्वान काफी समय तक फ्लीट आदि के मत को कम मे कम विचारणीय अवश्य मानते रहे ।

कनिष्क की तिथि पर आयोजित इस सम्मेलन के उपरान्त व्यतीत पिछली लगभग अर्द्ध-शताब्दी मे भारत और मध्य एशिया से कुषाण काल से सम्बन्धित काफी नवीन सामग्री प्रकाश मे आई है, परन्तु इस समस्या को हल करने वाला कोई निश्चायक प्रमाण नही मिला है । इसलिए लन्दन विश्वविद्यालय के 'स्कूल ऑव ओरियण्टल एण्ड एफ्रीकन स्टडीज' के तत्त्वाधान मे २०–२१ अप्रैल, १९६० ई० को इस विषय पर प्रोफेसर ए०एल० बैशम की अध्यक्षता मे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमे अनेक भारतीय, इटालवी, फ्रान्सीसी, जर्मन, रूसी व अग्रेज इतिहासकारो, मुद्राशास्त्रियो, अभिलेखशास्त्रियो व पुरातत्ववेत्ताओ आदि ने भाग लिया । बहुत से ऐसे विद्वानो ने भी, जो स्वय नही आ पाए थे अपने शोध-लेख विचारार्थ भेजे । इनमे कुछ से लेख कनिष्क की तिथि की समस्या से केवल परोक्षत सम्बन्धित हैं और कुछ तो इस समस्या को छूते भी नही । लेकिन प्रोफेसर बैशम ने इन सब ही को सम्पादित कर प्रस्तुत पुस्तक के रूप मे लीडेन से प्रकाशित कर दिया है ।

प्रोफेसर बैशम द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ मे छब्बीस विद्वानो द्वारा लिखित कुल तीस लेख हैं पी०एच०एल० एगरमोन्त ( P H L Eggermont ) के चार, ए०के० नारायण के दो और बाकी सबका एक-एक । सबसे पहिला लेख आर०बी० ह्वाइटहैड (पृ० १–३) का है जिसमे उन्होने कनिष्क की तिथि पर आयोजित प्रथम सम्मेलन का सक्षिप्त विवरण दिया है । इसके बाद सब लेख उनके लेखको के नामो के अग्रेजी वर्णक्रमानुसार दिए गए हैं । एफ०आर० एल्चिन ने अपने लेख (पृ० ४–३४) मे तक्षशिला के उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री के प्रकाश मे कनिष्क की तिथि की समस्या पर विचार किया है । इसमे सन्देह नही कि उन्होने मार्शल की रिपोर्ट मे बिखरी अत्यन्त उलझी हुई सामग्री का उपयोग करके तक्षशिला से प्राप्त मुद्राओ और अभिलेखो के आधार पर उस नगर के विभिन्न स्तरो के तिथिक्रम का काफी अच्छा पुनर्निर्माण किया है । उन्होने तक्षशिला से प्राप्त मौद्रिक सामग्री को तीन वर्गों मे बाँटा है । एक, विभिन्न स्तरो या इमारतो से प्राप्त इक्के-दुक्के सिक्के जिनकी उपलब्धि से तिथिक्रम विषयक कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता । दूसरे, मुद्रा-निधियाँ जिनकी तिथि का उनके स्तर की तिथि से सम्बन्ध जोडना अधिक सम्भव है और तीसरे, किसी स्तूप अथवा अन्य भवन मे धार्मिक कारणो से दफनाया गया कोई सिक्का । कही-कही ऐसे सिक्को के साथ उन सिक्को के राजा का अभिलेख भी मिल

जाता है। इसलिए एल्चिन का मत है कि ऐसे भवनो का निर्माण उस समय हुआ माना जा सकता है जब वे सिक्के जारी किए गए थे। उन्होने तक्षशिला और अन्य स्थलो से प्राप्त ऐसे सिक्को और अभिलेखो का अध्ययन किया है और परिशिष्ट रूप मे दो अत्यन्त उपयोगी तालिकाएँ (पृ० ३१–४) दी है। इस समस्त सामग्री मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण अहिनपोश स्तूप से प्राप्त निधि (पृ० ३१) है जिसमे विम कडफिसिज़ के काफी घिसे हुए दस सिक्के, कनिष्क के छ और हुविष्क का एक सिक्का शामिल है। कनिष्क के सिक्के कुछ कम घिसे हुए हैं जबकि हुविष्क का सिक्का एकदम नया है। इसलिए एल्चिन का अनुमान है कि इन्हे कनिष्क के शासन के अन्तिम वर्षों मे जब हुविष्क ने सहशासक के रूप मे अपने सिक्के चलाना शुरू कर दिया था, दफनाया गया होगा। अब, इन सिक्को के साथ रोमक सम्राट् ट्राजन तथा डोमिशियन की एक-एक मुद्रा के अलावा हेड्रियन की पत्नी सबीना की भी एक ऐसी घिसी-पिटी सुवर्ण मुद्रा मिली है जो १२८ और १३६ ई० के बीच मे जारी की गई थी (सबीना की मुद्राएँ १२८ ई० मे जारी होना शुरू हुई और १३६–१३७ मे उसकी मृत्यु हो गई)। क्योकि सबीना का सिक्का काफी घिसा हुआ है, अत एल्चिन का अनुमान है कि इस सिक्के को भारत पहुँचने मे १० से २५ वर्ष का समय लगा होगा। इसलिए वह इन मुद्राओ को दफन किए जाने का समय १५०–१६० ई० के बीच कभी मानकर कनिष्क-सम्वत् का प्रवर्त्तन १३०–१४० ई० के मध्य हुआ बताते हैं।

कनिष्क और कुषाण काल के विषय मे मध्य एशिया से प्राप्त प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लिखित तथ्यो की ओर एच० डब्ल्यु० बैली (H W Bailey) ने ध्यान दिलाया है (पृ० ३५–८)। एक, पेरिस की पैलियो २७८, पाण्डुलिपि मे, जो बौद्ध सस्कृत व खोतनी में लिखी है, कनिष्क विषयक दो आख्यान मिलते हैं जिनमे एक मे पुरुषावर (= पेशावर) मे कनिष्क स्तूप और कनिष्क विहार के निर्माण का उल्लेख है और दूसरे मे कनिष्क का उल्लेख कल्याणमित्र अश्वघोष के साथ हुआ है। इनमे कनिष्क को 'तह्‌वार स्थाम' (=तुखारिस्तान) के 'बाहुलक विषय' का 'राजा' 'चद्रर कर्णष्क (या कड्रर्णस्क)' कहा गया है। दो, कूची से प्राप्त पाण्डुलिपियो में 'कनष्के' का कई स्थलो पर उल्लेख मिलता है। तीन, आर्यविलोकितेश्वर बोधिसत्त्व महासत्त्व १०० अष्ट नाम् सूत्र नामक सोग्दी पाण्डुलिपि मे 'कनिष्क स्तूप' और विहार का उल्लेख है। चार, एक उइगुर तुर्की पाण्डुलिपि मे 'अचातपत्रु' (= अजातशत्रु) तथा कनिष्क का पाप करके पश्चाताप करने वाले नरेशो के रूप मे उल्लेख है। पाच, एक कूची पाण्डुलिपि मे कनिष्क नाम का स्त्रीलिंग रूप 'कनष्क' मिलता है। छ, कोनो द्वारा सम्पादित एक खरोष्ठी लेख (जेडा-अभिलेख, कॉर्पस २, भाग १, स ७५) मे कनिष्क की उपाधि 'मर्झक' मिलती है जो खोतनी पद-नाम 'मल्यसक' (= कोषाध्यक्ष) का प्राचीनतर रूप है। बेली का यह भी अनुमान है कि कनिष्क, हुविष्क और वाझेष्क नाम गुणबोधक विशेषण थे। कनिष्क नाम का अर्थ सम्भवत 'सर्वाधिक ओज से सम्पन्न युवा' था।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अगला लेख एम० बुस्सागलि (M Bussagli) का है और इसमे कनिष्क की समस्या को कला के इतिहासकार की दृष्टि से देखा गया है (पृ० ३९–५६)। वेली के लेख के समान उनका लेख भी कनिष्क की तिथि से सर्वथा असम्बद्ध है। इसकी विषय-वस्तु कला के इतिहास की पृष्ठभूमि मे कनिष्क के व्यक्तित्व और योगदान का अध्ययन करना है। बुस्सागलि का कहना है कि कुषाणकालीन गन्धार कला मे यद्यपि कई कला-परम्पराओ का प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु सुर्खकोतल से प्राप्त राजकीय मूर्तियाँ एव मथुरा के निकट माट से उपलब्ध 'देवकुल' की मूर्तियो की सादृश्यता एव ऐसे ही अन्य अनेक तत्वो से स्पष्ट है कि कुषाण साम्राज्य के सब प्रदेशो की कला एक 'अधिकृत कला' से प्रभावित थी। इसके उपरान्त बुस्सागलि ने कनिष्क के साथ सम्बन्धित विभिन्न स्थलो से प्राप्त कलाकृतियो, स्तूप आदि भवनो एव उनके साथ जुडे धार्मिक और राजनीतिक विचारो का अध्ययन किया है।

कनिष्क की तिथि का लिपिशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन ए०एच० दानी ने प्रस्तुत किया है (पृ० ५७–६६)। उन्होने इस समस्या के समाधान मे सहायक हो सकने वाले तिथिसहित खरोष्ठी अभिलेखो को तीन वर्गों मे बाँटा है। वर्ग १ के अन्तर्गत सम्वत् ९८ से १९१ तक के अभिलेख हैं। ये दो उपवर्गों मे विभाज्य हैं। (अ) सम्वत् ११३ के कल्दर-अभिलेख तक (सम्वत् १०३ के तख्त-ए-वाही लेख को छोडकर) तथा (आ) सम्वत् १२२ से १९१ तक के लेख सम्वत् १०३ के तख्त-ए-वाही लेख सहित) जिनमें कुछ मे कुषण, गुषण या खुषण नाम आया है। इस वर्ग के अभिलेख प्राचीनतर तिथिविहीन खरोष्ठी अभिलेखो से लिपिशास्त्रीय दृष्टि से भिन्न हैं क्योकि इनमे अक्षरो को सरल करने परन्तु इसके साथ ही एक निश्चित रूप देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इन सब अभिलेखो मे लिपि का नैसर्गिक विकास उनमे उपलब्ध तिथियो की सख्या मे वृद्धि के समानान्तर हुआ है, इसलिए इनमे एक ही सम्वत् का प्रयोग हुआ मानना आवश्यक है चाहे वह सम्वत् कभी भी प्रारम्भ हुआ हो। वर्ग २ मे दानी ने कनिष्क वर्ग के नरेशो के खरोष्ठी अभिलेख रखे हैं। ये भी दो उपवर्गों मे विभाज्य हैं· (अ) वे जो पाषाणो पर उत्कीर्ण हैं (यथा ११वें वर्ष का जेडा-अभिलेख, १८वें वर्ष का मणिक्याला-लेख, ४१वें वर्ष का आरा-लेख आदि) और (आ) दूसरे वे जो ताम्रपत्रो या धातुपात्रो पर लिखे हैं (यथा ११वें वर्ष का सुई-विहार ताम्रपत्र-लेख, २०वें वर्ष का कुर्रम-पेटिका लेख, ५१वें वर्ष का वर्डाक पात्र-अभिलेख)। दानी का आग्रह है कि वर्ग २ (अ) के लेखो की लिपि वर्ग १ (आ) के लेखो की लिपि की परम्परा मे है जबकि वर्ग २ (आ) लेखो की लिपि पर चीनी तुर्किस्तान की पाण्डुलिपियो की लिपि का गहरा प्रभाव है। अब अगर लिपि को सस्कृति का सूचक माना जाय तो कहा जा सकता है कि कनिष्क वर्ग के राजाओ के कारण पश्चिमोत्तर प्रदेशो के इतिहास और सस्कृति मे नए तत्व प्रविष्ट हुए थे। दूसरे शब्दो मे कनिष्क वर्ग के नरेश भारत मे चीनी तुर्किस्तान से आए थे और

प्राचीनतर कुषाण नरेशों से भिन्न थे। वर्ग ३ के खरोष्ठी लेखों में ३०३ से ३९९ तक तिथियाँ मिलती हैं। इनमें ३०३वें वर्ष का मामन्दा लेख, ३१८ का लोरिया तंगाई लेख, ३५९ का जमालगढ़ी-लेख, ३८४ का हश्तनगर-लेख व ३९९ का स्कारहरी-लेख उल्लेखनीय हैं। भाषा व लिपि की दृष्टि से ये स्पष्टतः प्रथम वर्ग के अभिलेखों की परम्परा में हैं और वर्ग २ (आ) में उपलब्ध पाण्डुलिपि-शैली के प्रभाव से सर्वथा मुक्त। जैसा कि श्री हुइजेन द ल्यु ने ध्यान दिलाया है वर्ग २ के लेखों से ज्ञात कनिष्क वर्ग के नरेशों ने करीब एक शती तक शासन किया और वर्ग १ के अभिलेखों की अन्तिम ज्ञात तिथि और वर्ग ३ के लेखों की प्रथम तिथि के बीच भी एक शती से कुछ ही अधिक वर्षों का अन्तर है। अतः कनिष्क वर्ग के अर्थात् वर्ग २ के लेखों को वर्ग १ और वर्ग ३ के मध्य रखा जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि वर्ग ३ के अभिलेखों में भी उसी सम्वत् का प्रयोग हुआ है जिसका वर्ग १ के अभिलेखों में।

इस प्रकार दानी के अनुसार पश्चिमोत्तर भारत के खरोष्ठी लेखों में केवल दो सम्वतों का प्रयोग हुआ है: एक वह जो वर्ग १ वर्ग ३ के लेखों में प्रयुक्त है और दूसरा वह जो इनके बीच में पुनर्गठन करने वाले कनिष्क वर्ग के लेखों में प्रयुक्त हुआ है। इस दूसरे सम्वत् का प्रचलन, उनके साथ लिपि पर पड़ने वाले चीनी तुर्किस्तानी प्रभाव के साथ, एक शती के अन्दर समाप्त हो गया, यद्यपि यह बाद में शकों द्वारा अवश्य प्रयुक्त किया जाता रहा। दानी का मानना है कि खरोष्ठी लेखों का प्राचीनतर सम्वत् ५७ ई० पू० से प्रारम्भ होने वाले उस सम्वत् से अभिन्न था जो भारतीय इतिहास में कृत, मालव और विक्रम नामों से विख्यात हुआ। इसी सम्वत् का प्रयोग शक क्षत्रपों के मथुरा से प्राप्त ब्राह्मी अभिलेखों में हुआ है। जहाँ तक कनिष्क वर्ग के अभिलेखों में प्रयुक्त सम्वत् का प्रश्न है, दानी इसका प्रवर्तन १४८ ई० के पूर्व रखना असम्भव मानते हैं। उनका तर्क इस प्रकार है: कनिष्क वर्ग के राजाओं के मथुरा ब्राह्मी अभिलेखों में कर्सीव शैली का प्रभाव मिलता है जो उनके खरोष्ठी अभिलेखों में उपलब्ध चीनी तुर्किस्तान की पाण्डुलिपि-शैली का ही परोक्ष प्रभाव है। मथुरा के ब्राह्मी अभिलेखों में यह प्रभाव १९९वें वर्ष (=१४४ ई०) तक नहीं मिलता। इसलिए कनिष्क वर्ग के लेखों के सम्वत् का प्रवर्तन १४४ ई० के पूर्व नहीं रखा जा सकता। जहाँ तक पश्चिमी भारत के क्षहरात और कार्दमक शकों का प्रश्न है, उन्होंने शक-सम्वत् का प्रयोग किया और उनके लेख कनिष्क वर्ग के लेखों की लिपि के प्रभाव से एकदम मुक्त हैं। इसलिए न तो कनिष्क को शक-सम्वत् का प्रवर्तक माना जा सकता है और न गुजरात व मालवा के शक क्षत्रपों को उसके अधीन। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा में कुषाण सत्ता स्थापित होने के बाद वहाँ के शक शासक भागकर गुजरात और मालवा चले गए और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए।

प्रस्तुत ग्रंथ में दानी के लेख के उपरान्त पी० एच० एल० एगरमोन्त (P H L Eggermont) के चार लेख दिए गए हैं। इनमें प्रथम लेख में (पृ० ६७-८६)

मेरुत्तुग द्वारा प्रदत्त राजसूची के पौराणिक स्रोत और भारत मे शको के आगमन की तिथि पर विचार किया गया है। एगरमोन्त का आग्रह है कि शक कुषाण अभिलेखो से उनके इतिहास पर पूर्ण प्रकाश तभी मिल सकता है जब अभिलेखो से ज्ञात तथ्यों को साहित्य से ज्ञात तिथिक्रम के साथ समन्वित किया जाए। ऐसे साहित्य के अन्तर्गत एक तो विभिन्न पुराण आते हैं जिनका पृथक्‌त और तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। दूसरे, इसमे बौद्ध एव जैन ग्रन्थ सम्मिलित हैं, विशेषत जैन थेरावलियाँ' और 'पट्टावलिया'। एगरमोन्त ने इनका अध्ययन करके आजमायशी रूप मे प्रस्तावित किया है कि लगभग २५ ई० पू० मे कुजूल कडफिसिज ने सत्ता हस्तगत की, १५ ई० मे भारत पर शको का आक्रमण हुआ, लग० ३० ई० मे भूमक ने शासन किया, लग० ३५ ई० मे विम ने मथुरा हस्तगत करके वहा से शक शासन का अन्त किया, लग० ५० ई० मे नहपान ने शासन किया और ७८ ई० मे प्रथम कनिष्क गद्दी पर बैठा। आन्ध्र-सातवाहनो के विषय मे उनका विचार है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने ६१ से ८५ ई० के बीच, वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने ८५ से १०६ ई० के बीच, माथरीपुत्र ने १०६-११७ के बीच तथा चतुरपन वासिष्ठीपुत्र ने १११ से १३० ई० के बीच शासन किया था।

एगरमोन्त ने अपने उपर्युक्त लेख मे कनिष्क को ७८ ई० मे रखने के पक्ष मे कोई प्रमाण नही दिया है। यह समस्या उन्होंने अपने दूसरे लेख मे (पृ० ८७-९३) मे उठाई है। इसमे उन्होंने ध्यान दिलाया है कि बौद्ध परम्परा के अनुसार अपनी मृत्यु के ४० वर्ष पूर्व बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि सद्धर्म उस समय से ५०० वर्ष बाद तक चलेगा, अर्थात् उनके परिनिर्वाण के ५००-४० = ४६० वर्ष बाद तक। सिंहल के थेरवादी ग्रन्थ दीपवश और महावश के अनुसार भी बुद्ध के परिनिर्वाण के ४६० वर्ष बाद धम्म को, जो तब तक मौखिक रूप से चला आया था, लेखबद्ध किया गया। इस परम्परा को उत्तर भारत के सर्वास्तिवादी बौद्ध भी जानते थे। उनके अनुसार सघ-भेद को दूर करने के लिए कनिष्क के शासनकाल मे थेरो की एक सगीति आयोजित की गई थी। अब, सर्वास्तिवादी परम्परानुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ३८३ ई० पू० मे हुआ। इसलिए थेरावादी और सर्वास्तिवादी परम्पराए अगर एक ही हैं तो यह सगीति (अर्थात ३८३ ई० पू० के ४६० वर्ष उपरान्त अर्थात् ७७ ई० मे (जो ज्योतिषीय गणनानुसार=७८ ई० है) आयोजित हुई। एगरमोन्त का कहना है कि मूल बौद्ध परम्परा यह रही होगी कि सद्धर्म का ह्रास बुद्ध के परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद होगा। लेकिन जब सर्वास्तिवादियो ने यह देखा कि परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद अर्थात् ५००-३८३=११७ ई० के पूर्व ही कनिष्क द्वारा आयोजित सगीति के कारण सद्धर्म की अवनति रुक गई तो उन्होने बुद्ध के मुह से भविष्यवाणी उनके परिनिर्वाण के ४० वर्ष पूर्व करा दी जिससे ५०० वर्ष के इस युग की समाप्ति ५००-३८२—४०=७८ ई० मे, जब कनिष्क ने शासन करना शुरू किया, मानी जा सके। डॉ० वान विज्क (Van Wizk) ने ११वें वर्ष के जेडा-अभिलेख व ६१वें वर्ष के

मोहिन्द-लेख में प्रदत्त नक्षत्रविद्या विषयक तथ्यों के आधार पर कनिष्क के राज्या-रोहण को ७९, ११७ अथवा १३४ ई० में मानने का सुझाव रखा था । इनमें एगरमोन्ट चालू वर्ष ७९ ई० (=व्यतीत ७८ ई०) को अपने निष्कर्ष के साथ संगत होने के कारण स्वीकृत करते हैं (पृ० १०१-२) । उनका यह भी कहना है कि उन खरोष्ठी अभिलेखों में, जिनमें ३०२ से ३९९ तक तिथियां मिलती हैं (दानी के लेख में वर्णित वर्ग ३ के खरोष्ठी लेख), वस्तुतः सर्वास्तिवादियों का ३८३ ई० पू० वाला परि-निर्वाण सम्वत् प्रयुक्त है । इस प्रकार ये लेख ८० ई० पू० से १७ ई० के बीच में अर्थात् प्राक्-कनिष्क युग में रखे जा सकते हैं ।

अपने तीसरे लेख (पृ० ९४-९६) में एगरमोन्ट ने पेरिप्लस ऑव एरिथ्रियन सी नामक ग्रन्थ की तिथि ३० ई० सुझाई है । उन्होंने ध्यान दिलाया है कि राइकमान (Ryckmans) ने साबा सम्वत् की तिथि ११५ ई० पू० निर्धारित कर दी है जिसके कारण पेरिप्लस में उल्लिखित खरीबैल (Kharibael) नामक नरेश को साबा नरेश करीब इल वतर युहुनिम द्वितीय मानना सम्भव हो गया है । अब, करीब-इल वतर युहुनिम ३९ ई० में शासन करने वाले अरब नरेश इलअज्ज यालुत का समकालीन था । उसका उल्लेख भी 'पेरिप्लस' में इलिअज़ोज नाम से हुआ है । अतः पेरिप्लस की रचना लग० ३० ई० में हुई मानी जा सकती है यद्यपि विद्वान् लोग इसे अब तक प्रायः प्रथम शती ई० के उत्तरार्द्ध में रचित मानते रहे हैं ।

अपने चौथे लेख (पृ० ९७-१०२) में एगरमोन्ट ने एक अन्य 'क्लासिकल' ग्रन्थ, पाम्पियस ट्रोगस द्वारा रचित हिस्टोरिया फिलिप्पिका (Historia Philippica) के आधार पर शक (=कुषाण) साम्राज्य की कुजुल कडफिसिज के नेतृत्व में स्थापना २५ ई० पू० सिद्ध करने की चेष्टा की है ।

कनिष्क की तिथि विषयक मौद्रिक साक्ष्य का विवेचन अपने लेख (पृ० १०३-१२) में आर० गोब्ल (R Goble) ने किया है । उनका विश्वास है कि कुषाण मुद्राओं का अध्ययन करके कुषाण नरेशों का कम से कम सापेक्ष तिथिक्रम अवश्य ही निर्धारित किया जा सकता है । इसके लिए उन्होंने कुषाण सिक्कों पर रोमक मुद्रा प्रकारों के प्रभाव का अध्ययन किया है । वह यह मानते हैं कि विम कडफिसिज के सिक्कों पर रोमक सम्राट् ट्राजन, कनिष्क के सिक्कों पर हैड्रियन और हुविष्क के सिक्कों पर एन्टोनियस पियस (Antonius Pius) के सिक्कों का प्रभाव मिलता है । लेकिन इन रोमक सम्राटों के सिक्कों को भारत पहुंचने में कुछ समय लगा होगा इसलिए उपर्युक्त कुषाण और रोमक सम्राटों की सम्भव समकालिकता की तालिका इस प्रकार होगी

विम कडफिसिज—ट्राजन/हैड्रियन
कनिष्क— हैड्रियन/पियस
हुविष्क— पियस/मार्कस

वासुदेव— मार्कस् और सेवेरस के वंश के प्रारंभिक सदस्य ।

इस प्रकार मौद्रिक साक्ष्य घिर्शमा (Ghirshman) तथा मार्शल के इस सुझाव के पक्ष मे है कि कनिष्क ने १४४ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया । गोयबूल के अनुसार कुषाण-सामानी मुद्रामाला के प्रारम्भ की तिथि भी जिसके साथ महाकुषाण साम्राज्य का अन्त हुआ, इसी निष्कर्ष के साथ सगत है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अगला लेख पी० एल० गुप्त का है (पृ० ११४-२०) । वह यह मानकर चलते हैं कि मौर्य साम्राज्य का पतन लग० २१५ ई० पूर्व मे हुआ । उसके उपरान्त मथुरा, कौशाम्बी, अयोध्या और अहिच्छत्रा मे, जो वाद मे कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत थे, स्थानीय राज्य स्थापित हुए जिनका अन्त स्वय कुषाणो ने किया । अत हम अगर राज्यो अवसान की तिथि निश्चित कर सके तो कुषाण साम्राज्य की स्थापना की तिथि का अन्दाज लगा सकेंगे । इनमे मथुरा पर, जिस पर कुषाणो का शुरू से ही अधिकार था, मौर्योत्तर युग मे शासन करने वाले बीस नरेशो के नाम सिक्को से ज्ञात हैं—गोमित्र, सूर्यमित्र, ब्रह्ममित्र, ध्रुवमित्र, दृढमित्र, विष्णुमित्र, शेषदत्त, पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, रामदत्त कामदत्त, भवदत्त, वलभूति, महाक्षत्रप राजूवुल, महाक्षत्रप शोडास, क्षत्रप तोरणडास, क्षत्रप हगान, क्षत्रप हगामष, क्षत्रप शिवदत्त तथा क्षत्रप शिवघोष । इनमे गोमित्र के सिक्के लिपिशास्त्रीय दृष्टि से प्राचीनतम है और तीसरी शती ई० पू० के अन्त के हो सकते हैं । अव, इनमे हर राजा ने औसतन अगर १८ वर्ष शासन किया हो तो इनका कुल शासनकाल १८ × २० = ३६० वर्ष होगा और मथुरा के इस स्थानीय राज्य का अन्त २१५ ई० पू०–३६० = १४५ ई० के लगभग हुआ मानना पडेगा । इसी प्रकार कौशाम्बी की खुदाई मे, जहा से कनिष्क के प्राचीनतम अभिलेख उपलब्ध हैं, कुषाण सिक्के मघ नरेशो के सिक्को के साथ तीसरे स्तर मे मिले हैं । उनके नीचे सातवें से चौथे स्तर तक १९ स्थानीय 'मित्र' राजाओ के सिक्के मिले हैं । वे हैं ववघोष, अश्वघोष, परवत, इन्द्रदेव, सुदेव, मित्र, राधमित्र, अग्निमित्र, ज्येष्ठमित्र, बृहस्पतिमित्र, सुरमित्र, वरुणमित्र, पोठमित्र, सर्पमित्र, प्रजापतिमित्र, सत्यमित्र, राजमित्र, रजनीमित्र, तथा देवमित्र । एक अन्य नरेश शिवमित्र एक अभिलेख से ज्ञात है । अगर इन बीस राजाओ ने २१५ ई० पू० के लगभग शासन करना आरम्भ किया तो उनका अन्त उपर्युक्त मथुरा नरेशो के समान १४५ ई० के लगभग हुआ मानना पडेगा । इसके बाद कौशाम्बी पर ग्यारह मघवशीय नरेशों (भद्रमघ, वैश्रवण, शिवमघ, शतमघ, विजयमघ, पुरमघ, युगमघ, भीमवर्मा, नाविक, पुष्पश्री तथा धनदेव) ने शासन किया। उनके प्रारम्भिक सिक्को के साथ कुषाण सिक्के मिले हैं और पहले स्तर मे उनके अन्तिम सिक्को के ठीक ऊपर गणेन्द के (= गणपतिनाग, जिसे समुद्रगुप्त ने उन्मूलित किया था) । इन ग्यारह राजाओ ने लगभग ३५० ई० के पूर्व, जव समुद्रगुप्त ने साम्राज्य स्थापित किया, करीव १८ × ११ = १९८ वर्ष शासन किया । इस प्रकार मघवश की स्थापना ३५०–१९८ = १५२ ई० के लगभग हुई । इसलिए निष्कर्ष

अनिवार्य हो जाता है कि कौशाम्बी में उपर्युक्त 'मित्र' वंश के अन्त और मघवंश की स्थापना की तिथि १४५–१५२ ई०के आस-पास पड़ेगी और उसी समय यह नगर कुषाणों के प्रभावान्तर्गत आया था। अयोध्या से प्राक्-कुषाण युग के पन्द्रह राजाओं के सिक्के मिले हैं। वे हैं मूलदेव, वायुदेव, विशाखदेव,धनदेव,शवदेव,शिवदत्त, नरदत्त,ज्येष्ठदत्त, कुमुदसेन, अजवर्मा, संघमित्र, विजयमित्र, सत्यमित्र, देवमित्र, आर्यमित्र। इनमें धनदेव अयोध्या-अभिलेख से ज्ञात धनदेव हो सकता है जिसका पिता फल्गुदेव था और मूलदेव 'हर्षचरित' से ज्ञात मूलदेव हो सकता है जिसने अग्निमित्र के पुत्र सुमित्र (=वसुमित्र) की हत्या की थी। इसलिए यह सर्वथा सम्भव है कि अयोध्या के इस राजवंश की स्थापना मूलदेव ने लग० १३० ई० पू० में की हो। उस अवस्था में इन सोलह राजाओं (सिक्कों से ज्ञात १५ राजा+फल्गुदेव) ने १६×१८=२८८ वर्ष शासन किया होगा और कुषाणों का इस नगर पर अधिकार १३० ई० पू० – २८८=१५८ ई० के लगभग हुआ होगा। अहिच्छत्रा से प्राक्-कुषाण युग के २१ नरेश ज्ञात हैं—रुद्रगुप्त, जयगुप्त, दामगुप्त, वंगपाल, विश्वपाल, यज्ञपाल, वसुसेन, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, ध्रुव-मित्र, इन्द्रमित्र, अग्निमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, जयमित्र, फाल्गुनीमित्र, बृहस्पतिमित्र, अयुमित्र, आयुमित्र, वरुणमित्र तथा प्रजापतिमित्र। उन्होंने कुल मिलाकर २१×१८ =३७८ वर्ष शासन किया होगा। अगर इस राज्य की स्थापना भी २१५ ई० पू० के लगभग हुई थी तो यहां भी कुषाण प्रभुत्व १६३ ई० के पूर्व स्थापित नहीं माना जा सकता। इस प्रकार मथुरा, कौशाम्बी, अयोध्या और अहिच्छत्रा में कुषाणों का प्रवेश क्रमशः १४५, १४५-१५२, १५८ और १६३ ई० के बहुत पहिले रखना दुष्कर है। यह निष्कर्ष पिगॉट के इस मत का समर्थन करता प्रतीत होता है कि प्रथम कनिष्क ने १४४ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया।

अगला लघु लेख (पृ० १२१–२२) हेल्मुत हुम्बाख (Helmut Humbach) का है जिसमें उन्होंने कनिष्क के सुर्खकोतल अभिलेख के साक्ष्य का विश्लेषण किया है। इस लेख में कनिष्क द्वारा 'कनिष्क वर्गो' नाम से विख्यात देव-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है जिसका उद्घाटन मिह्र पूजा के साथ हुआ था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि कनिष्क के पिता का नाम बोलाप्य था तथा कनिष्क ने एक पद्य बनाया था जिसमें 'होम (=सोम)' को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसके चौथे पद में कहा गया है कि ३१वें 'योनो' (सम्वत्) के पहिले 'निशान' को 'कनिष्क और महान् मिह्र को प्रतिष्ठापित किया गया।' इसके दो अर्थ सम्भव हैं या तो कनिष्क और मिह्र की दो मूर्तियां प्रतिष्ठापित की गई थीं अथवा मात्र कनिष्क की, मिह्र रूप में। इनमें दूसरा अर्थ सार के विस्तार लगता है क्योंकि ७वें पद में कनिष्क को मिह्र का पुत्र कहा गया है और उसके लिए उन विशेषणों का प्रयोग है जो तीसरे पद में मिह्र के लिए आए हैं। अगर इस लेख का ३१वां वर्ष कनिष्क सम्वत् का वर्ष है, तो (हुम्बाख के अनुसार) कनिष्क की मृत्यु उसके सम्वत् के ३१वें वर्ष के पूर्व हो चुकी होगी (बहुत से विद्वान् कनिष्क को ३१वें वर्ष में जीवित मानते हैं)। यह कनिष्क

आरा लेख मे चर्चित कनिष्क नही हो सकता क्योकि आरा-लेख का कनिष्क वझेष्क का पुत्र था और यह कनिष्क कोज्गष्क का। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ तोची द्विभाषीय लेखो मे एक वाख्त्री 'क्षोनो' का उल्लेख मिलता है जिसका प्रवर्त्तन निश्चय ही २३२ ई० मे हुआ होगा। वह 'क्षोनो' सुर्खकोतल-लेख का क्षोनो तथा कनिष्क द्वारा प्रयुक्त सम्वत् कदापि नही हो सकता।

अगले लघु लेख मे (पृ० १२३–२५), जिसके लेखक डी० डी० कौसाम्बी हैं, कनिष्क की तिथि ७८ ई० एव १४४ ई० मे मानने वाले मतो मे सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा है। कौसाम्बी का कहना है कि एक तरफ कनिष्क को १४४ ई० में रखने वाले मैक्डावल, एल्चिन, गोयब्ल तथा वैरेट आदि विद्वानो का मत प्रधानत मौद्रिक और तत्सम्बन्धी पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित है जिसको नजरअन्दाज नही किया जा सकता तो दूसरी तरफ कनिष्क को ७८ ई० मे रखने वाले मत को तोल्स्तोव द्वारा सोवियत ख्वारिज्म मे किए गए उत्खनन से बहुत बल मिला है। इन परस्पर विरोधी साक्ष्य मे सामञ्जस्य बैठाने के लिए कौसाम्बी का सुझाव है कि शक सम्वत् का प्रवर्त्तन करने वाले कनिष्क ने अपने सिक्को पर केवल 'सौटर मैगस' उपाधि लिखवाई, कुछ वैसे ही जैसे अशोक ने अपने अभिलेखो मे ज्यादातर 'मागधे राजा' और 'देवानपिय पियदसि' उपाधियो का प्रयोग किया था। वह कनिष्क जिसने सिक्को पर कनिष्क नाम धारण किया और जिसे उपर्युक्त विद्वान् १४४ ई० के लगभग रखते हैं, इस नाम का दूसरा राजा था। प्रथम कनिष्क मूलत एक मामूली कबाइली सरदार था, धीरे-धीरे उन्नति करके वह सम्राट् बना। इसीलिए उसे सुर्ख-कोतल–अभिलेख मे देवपद प्रदान किया गया है।

जे० इ० वान लो हुईजे न–द लियु ने अपने लेख (पृ० १२६–३३) मे कनिष्क की तिथि की समस्या पर कला के इतिहासकार की दृष्टि से विचार किया है। इस विषय मे उन्होने अपने उसी मत को आगे बढाया है जिसका प्रतिपादन उन्होने अपने सुप्रतिथ ग्रन्थ दि स्कीथियन पीरियड (लीडेन, १९४९) मे किया था। वहा उन्होंने कुछ नई मूर्तियो की चर्चा की है जिन्हे वह उस वर्ग का मानती हैं जो उनके अनुसार कनिष्क-सम्वत् की दूसरी शती की है (उनके अनुसार इन मूर्तियो में प्रदत्त तिथियो मे सौ का अक नही दिया गया है)। उन्होने इन मूर्तियो की शैली का प्रभाव अमरावती की द्वितीय शती ई० के अन्त की मूर्तियो पर माना है। इस आधार पर वह कनिष्क की तिथि लगभग ८० ई० निर्धारित कर उसे शक–सम्वत् का प्रवर्त्तक मानती हैं।

अगला निबन्ध डैविड डब्ल्यु० मैकडावल का है जिसमे उन्होने कनिष्क की तिथि से सम्बन्धित मौद्रिक साक्ष्य का विवेचन किया है। उन्होने ध्यान दिलाया है कि कुषाण मुद्राओ की अनेक विशेषताएँ रोमक मुद्राओ से उधार ली गई थी और अनेक स्थलो पर कुषाण सिक्के रोमक सिक्को के साथ मिलते हैं। और चू कि रोमक-मुद्रामाला की तिथिया निश्चित प्राय हैं, इसलिए ऐसे रोमक सिक्को की सहायता से कुषाण सिक्को की तिथियो का अन्दाज लगाया जा सकता है। इस विषय मे उन्होने

तीन खोजों की ओर विशेषत ध्यान दिलाया है। एक ऑगस्टस की एक रजत दीनार, जो ११–१३ ई० मे जारी की गई थी, तक्षशिला के स्तूप न० ४ मे एजिलाइसिस की एक रजत दिरहम के साथ मिली है। दोनो सिक्के अच्छी दशा मे हैं और परिस्थिति से स्पष्ट है कि वहा जानबूझ कर रखे गये थे। इनको २०–३० ई० मे कभी दफन किया गया होगा। दो, माणिक्याला स्तूप मे कुजूल कडफिसिज, विमकडफिसिज व कनिष्क के सिक्के और एक रजतपात्र मे रखी हुई रोम की गणतन्त्र-युगीन सात दीनारें मिली हैं। ये सिक्के कनिष्क के शासन काल के मध्य या अन्त में दफनाए गए होंगे। मैक्डावल का विचार है कि ये रोमक दीनारें ट्राजन और हेड्रियन के शासनकाल मे साम्राज्य के बाहर निर्यात हुई थी। तीसरे, जलालाबाद के अहिन-पोश स्तूप से प्राप्त निधि जिसमे सवीना का एक सिक्का विम, कनिष्क व हुविष्क के सिक्को के साथ मिला है। पीछे, एल्चिन के लेख मे, इसकी चर्चा हो चुकी है। मैक्डावल के अनुसार इन तीनो निधियो का साक्ष्य परस्पर सगत है और वान विज्क (Van Wizk) के इस सुझाव का समर्थन करता है कि कनिष्क ने १२८–९ ई० में शासन करना प्रारम्भ किया, यद्यपि इससे कनिष्क को उसके पूर्व ११० ई० के लगभग अथवा बाद मे १४४ ई० मे रखने वाले विद्वानो के मतो का प्रत्याख्यान पूर्णत नही होता।

र० च० मजूमदार भारत के उन विद्वानो मे से हैं जो कनिष्क को २४८ ई० मे प्रारम्भ होने वाले त्रैकूटक-कल्चुरि सम्वत् का प्रवर्त्तक मानते हैं। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रकाशित अपने लेख मे भी किया है (पृ० १५०-४)। उनका कहना है कि एक तरफ कनिष्क का राज्यारोहण लगभग ३५० ई० मे समुद्रगुप्त द्वारा गुप्त साम्राज्य की स्थापना के लगभग एक शती पूर्व (अर्थात् तीसरी शती ई० के मध्य) के उपरान्त नही रखा जा सकता तो दूसरी तरफ कुषाण साम्राज्य की स्थापना लगभग १५० ई० पू० मे मौर्य शुङ्ग साम्राज्य के पतन के तीन-चार सौ वर्ष बाद तक नहीं हो सकती थी क्योकि मौर्यों के बाद और कुषाणों के पूर्व पश्चिमोत्तर भारत पर करीब बीस यूनानी और लगभग इतने ही शक-पह्लव नरेशो ने राज्य किया था। इन चालीस राजाओ मे कम से कम एक—स्ट्रैटो—ने करीब साठ वर्ष शासन किया। इसलिए पश्चिमोत्तर भारत मे यूनानी-शक-पह्लव प्रभुत्व का अन्त और कुषाण साम्राज्य की स्थापना तीसरी शती ई० के मध्य मानना पूर्णत न्याय सगत होगा। इस निष्कर्ष का समर्थन अन्य अनेक तथ्यो से होता है। एक, पश्चिमी भारत मे शक महाक्षत्रप रुद्रदामा, जिसे कनिष्क के अधीन मानना अनुचित है, एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था जिसमे ऐसे बहुत से प्रदेश सम्मिलित थे जिन पर कुषाणो ने भी शासन किया। रैप्सन के मतानुसार भी पश्चिमी भारत के महाक्षत्रपो की शक्ति का ह्रास २४५ ई० से लगभग प्रारम्भ हुआ, उसके पूर्व नही। दूसरे, गगा की घाटी मे मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी तथा अयोध्या आदि राज्यो ने प्रत्येक में मौर्यों के बाद व कुषाणों के पूर्व करीब बीस-बीस नरेशो ने

शासन किया (दे०, पी० एल० गुप्त का लेख)। उन्होने कुल मिलाकर करीब ३५०–४०० वर्ष शासन किया होगा। यह समय अगर १५० ई० पू० से गिना जाए तो कुषाणो द्वारा इन राज्यो का अन्त तीसरी शती के पूर्वार्द्ध मे हुआ मानना होगा। तीसरे होउ-हान-शू तथा वेई ल्यु आदि चीनी इतिहास ग्रन्थो से कुषाणो के विषय मे जो निश्चित तिथिया ज्ञात हैं वे सब तीसरी शती ई० मे पडती हैं। चौथे, कुषाण अभिलेखो (जैसे कनिष्क का १४ वें वर्ष का मथुरा अभिलेख) की लिपि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति और द्वितीय चन्द्रगुप्त के मथुरा अभिलेखो की लिपि से बहुत सादृश्य रखती है। गुप्त और कुषाण सुवर्ण मुद्राओ की सादृश्यता तो सर्वज्ञात है ही। इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए भारत मे कुषाण सत्ता का प्रसार तीसरी शती ई० के पूर्वार्द्ध मे और कनिष्क का राज्यारोहण तीसरी शती के मध्य हुआ मानना अनुचित नही है। उस अवस्था मे कनिष्क को त्रैकूटक-कलचुरि-सम्वत् का प्रवर्त्तक अनायास माना जा सकता है।

मजूमदार के उपरान्त स्वर्गीय आन्द्रे मारीच (Andre' Maricq) का लेख है जिसमे उन्होने ७८ ई० विषयक मत का समर्थन किया है। पहिले उनके लेख का फ्रान्सीसी भाषा मे मूलपाठ दिया गया है (पृ० १५५–७८) जिसके साथ जेकेलाइन पिरेने (Jacqueline Pirenne) द्वारा अंग्रेजी मे लिखित प्रस्तावना है। मारीच की अकस्मात मृत्यु हो जाने के कारण पिरेने ने उनके लेख के कुछ भागो को उनके द्वारा छोडी गई टिप्पणियो की सहायता से सशोधित किया। इसके बाद मारीच के लेख का जे० जी० द कास्पारिस (J. G de Casparis) द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद (पृ० १७९–१९९) दिया गया है। मारीच का मुख्य उद्देश्य घिर्शमा के इस मत की दुर्बलताए प्रदर्शित करना है कि कनिष्क ने १४४ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया। घिर्शमा का मत प्रधानत बेग्राम की खुदाई के साक्ष्य पर आधारित है। 'बेग्राम २' की खुदाई मे हाकिन (Hackin) को एक विचित्र निधि मिली थी जिसमे भारतीय, चीनी और पाश्चात्य कलाकृतिया सम्मिलित थी। घिर्शमा के अनुसार इनमे सबसे बाद की कलाकृतिया तीसरी शती ई० की हैं। 'बेग्राम २' के इस स्तर से प्राप्त नवीनतम मुद्राए प्रथम वासुदेव की थी जिसे, घिर्शमा के अनुसार प्राय २२०–२३० के बीच मे रखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि 'बेग्राम २' का विनाश तीसरी शती मे हुआ। अब पर्सिपॉलिस के पास नक्शे-ए-रुस्तम से प्राप्त त्रिभाषीय अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रथम शापुर ने कुषाणो के विरुद्ध अभियान मे अफगानिस्तान को रौंद डाला था। उस समय वह बेग्राम भी गया होगा। इन दोनो साक्ष्य को समवेत करने पर निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम शापुर ने २४१–५० के बीच कभी (२४४ ई० मे) 'बेग्राम २' को विनष्ट करके प्रथम वासुदेव की सत्ता का अन्त किया था और क्योकि प्रथम वासुदेव की अन्तिम ज्ञात तिथि कनिष्क सम्वत् ९८ है, इसलिए यह सम्वत् १४३–१५२ ई० के बीच कभी जारी हुआ होगा। इस बीच मे कृत-मालव-विक्रम सम्वत् का २०० वा वर्ष १४४ ई० मे

पूरा हुआ । अत घिर्शमा ने माना है कि कुषाणो ने अपने सम्वन् की गणना विक्रम सम्वत् की तीसरी शती के पहिले वर्ष से की होगी । इस प्रकार कनिष्क सम्वत् १४४ ई० मे प्रारम्भ हुआ होगा ।

मारीच के अनुसार घिर्शमा अपने मत को निर्विवाद रूप से स्थापित नहीं कर पाए हैं । एक, उपर्युक्त त्रिमापीय अभिलेख से यह कदापि प्रमाणित नही होता कि प्रथम शापुर ने वेग्राम को विनष्ट किया था । दूसरे, घिर्शमा यह मानकर चलते हैं कि प्रथम वासुदेव ने, जिसके सिक्के 'वेग्राम २' से मिले हैं, २२०–३० ई० के मध्य शासन किया । परन्तु यही बात तो प्रमाणित की जानी है । इसे मानकर कैसे चला जा सकता है ? तीसरे, घिर्शमा के ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद 'वेग्राम २' की उपर्युक्त निधि की कलाकृतियो का अन्य अनेक विद्वानो ने अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि इस निधि की नवीनतम कलाकृतिया ५०–७५ ई० के मध्य निर्मित हुई । इसलिए स्पष्ट है कि 'वेग्राम २' का विनाश प्रथम शती के अन्त मे या इसके कुछ बाद मे हुआ न कि तीसरी शती मे शापुर द्वारा । जहा तक 'वेग्राम २' से प्रथम वासुदेव के सिक्को की उपलब्धि का प्रश्न है, मारीच इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य 'वेग्राम २' के दूसरे स्तर से हुविष्क के २२ सिक्को की उपलब्धि को मानते हैं । इनके आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'वेग्राम २' का विनाश हुविष्क के शासन के अन्तिम वर्षों मे और प्रथम वासुदेव के शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे हुआ था । यह निष्कर्ष कनिष्क को ७८ ई० मे रखने पर ही बोधगम्य हो सकता है क्योकि उस अवस्था मे माना जा सकेगा कि उपर्युक्त कलाकृतिया ५०–७५ ई० के मध्य निर्मित हुई । १०० ई० के लगभग 'वेग्राम २' पहुची और १४१ ई० के लगभग (प्रथम वासुदेव के शासन का प्रारम्भ) 'वेग्राम २' के विनाश मे हुविष्क व प्रथम वासुदेव के सिक्को के साथ दबी । कनिष्क को १४४ ई० मे रखने पर इन कलाकृतियो की रचना और दफन होने के बीच ६६ वर्ष का समय और बढ जाता है जो सर्वथा अस्वीकार्य है ।

घिर्शमा ने वेग्राम के अतिरिक्त तालिवर्जु, ऐर्तम तर्मिज, कले मीर तथा कंकुवादशाह (कोवादियन) स्थलो की खुदाई से ज्ञात तथ्यो को भी अपने मत के समर्थन मे प्रयुक्त किया है । परन्तु उनका साक्ष्य वेग्राम से भी अधिक अविश्वसनीय है ।

घिर्शमा के मत की आलोचना करने के उपरान्त मारीच ने शक-सम्वत् के प्रवर्त्तक की पहिचान निर्धारित करने की चेष्टा की है । वह आबे बोयर (Abbe' Boyer) के इस मत से असहमत हैं कि शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक नहपान था । वह जोव्रू दुब्रील (Jouvean-Dubreuil) के इस मत को भी अस्वीकार करते हैं कि शक-सम्वत् का प्रवर्त्तन चष्टन ने किया था । चष्टन की पुलुमावी के साथ समकालीनता और नहपान का, जिसके बाद चष्टन ने शासन किया, पुलुमावि के पिता गौतमीपुत्र के शासन के १८ वें वर्ष पूर्व शासन करना यह सिद्ध करते हैं कि चष्टन

शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक नही हो सकता। दूसरे, चष्टन ने 'क्षत्रप' उपाधि धारण की जो कुषाण गवर्नरो की उपाधि थी (दे०, खरपल्लान, वनस्पर तथा लियाक आदि के उदाहरण)। यह सही है कि उसने 'राजन्' उपाधि भी धारण की थी और अपने सिक्के जारी किए थे, परन्तु इनमे केवल इतना प्रमाणित होता है कि वह एक विशेषत प्रतिष्ठित गवर्नर था। ऐसा प्रतीत होना है कि जब चष्टन ने शासन करना आरम्भ किया, प्रथम कनिष्क शक-सम्वत् का प्रवर्त्तन कर चुका था और चष्टन ने अपने स्वामी के सम्वत् का ही प्रयोग किया था। यह आपत्ति कि कुषाण शकजातीय नही थे बहुत सबल नही है। यह सर्वथा सम्भव है कि वे शक जाति का ही एक कबीला रहे हो। स्वय 'कनिष्क' एक शक नाम था (बेली)। लेकिन मारीच के अनुसार हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन से केवल इतना प्रमाणित होता है कि घिर्शमा द्वारा १४४ ई० के समर्थन मे प्रदत्त तर्क निश्चायक नही हैं एव स्वय 'बेग्राम २' के साक्ष्य से इस बात की सबल सम्भावना उमडती है कि कनिष्क ने शक-सम्वत् का प्रवर्त्तन किया था, परन्तु इस विवेचन से यह प्रमाणित नही होता कि १४४ ई० वाला मत एकदम गलत है अथवा कनिष्क ने निश्चय ही शक-सम्वत् प्रवर्त्तित किया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अगला लेख बी० एन० मुखर्जी का है (पृ० २००–५)। वह ७८ ई० के समर्थक हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं होउहानशू के अनुसार येन-काओ-चेन (=विम) ने शैन-तु (=सिन्धु प्रदेश) को जीता था, कनिष्क का बहावलपुर प्रदेश पर अधिकार उसके सुई-विहार-अभिलेख से प्रमाणित है और प्रथम वासुदेव के ताबे के १४३८ सिक्के मोहन = जोदाडो से प्राप्त हुए हैं। अत सिन्धु प्रदेश पर कुषाणो का अधिकार विम के समय से लेकर प्रथम वासुदेव (प्रथम ज्ञात तिथि ६४ या ६७) के शासन के प्रारम्भिक वर्षो तक अर्थात् कम से कम '६७ से कुछ अधिक वर्ष तक' अवश्य बना रहा था। लेकिन रुद्रदामा के जूनागढ-लेख से ज्ञात है कि रुद्रदामा १५० ई० मे सिन्धु प्रदेश पर शासन कर रहा था। इसलिए सिन्धु प्रदेश पर कुषाण सत्ता के '६७ से कुछ अधिक वर्ष' १५० ई० के पहले या बाद मे पडेंगे। दूसरे शब्दो मे कनिष्क-सम्वत् का प्रारम्भ १५०–६७=८३ ई० के पूर्व अथवा १५०–६८=२१७ ई० के बाद ही रखा जा सकता है। इनमे दूसरा विकल्प स्पष्टत अस्वीकार्य है। दूसरी तरफ, होउहानशू के अनुसार कुजूल कड-फिसिज ने आन-शी (पार्थिया) को परास्त करके काओ-फू (काबुल) को जीता था। अब, बी० एन० मुकर्जी के अनुसार, यह घटना १ ई० पू० के लगभग घटी। दूसरे, मुखर्जी के ही अनुसार, विम ने पार्थियन नरेश द्वितीय गोताजेंज के, जिसने ४०-४१ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया, सिक्को का अनुकरण किया था। इसलिए कनिष्क-सम्वत् ४१ ई० के बाद प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार कनिष्क-सम्वत् का प्रथम वर्ष ४१ और ८३ ई० के मध्य पडेगा। इसलिए इस सम्वत् की पहिचान शक सम्वत् से करना अनुचित नही है। मघो के अभिलेखो मे जिस सम्वत् का प्रयोग है वह

सम्भवत शक-सम्वत् ही है और चूंकि कौशाम्बी पर कनिष्क का अधिकार कनिष्क-सम्वत् २ में ही था और मघों द्वारा प्रयुक्त सम्वत् उनका अपना सम्वत् नहीं था, इसलिए निष्कर्ष निकलता है कि मघों द्वारा प्रयुक्त सम्वत् (जो शक सम्वत् लगता है) और कनिष्क-सम्वत् अभिन्न थे ।

ए० के० नारायण ने अपने लेख में (पृ० २०६–२३८), जो सम्मेलन में मूल लेख के रूप में पढ़ा गया था, कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १०३ ई० सुझाई है । उनका कहना है कि कनिष्क का राज्यारोहण १२० से १४४ ई० तक कभी रखने से द्वितीय वासुदेव को २७५ ई० में रखना पड़ता है जिससे उसके और समुद्रगुप्त के बीच केवल ७५ वर्ष का अन्तर रह जाता है जो बहुत कम है । दूसरे, उस अवस्था में रुद्रदामा का १५० ई० में सिन्ध पर अधिकार अव्याख्येय हो जाता है । दूसरी तरफ, अगर हम कनिष्क का राज्यारोहण ७८ ई० में मानते हैं तो शक-पह्लव नरेशों और कनिष्क के बीच विम के लिए स्थान निकालना मुश्किल हो जाता है । इस कठिनाई के कारण नारायण कनिष्क-सम्वत् की तिथि ९८ ई० और १४४ ई० के बीच में कभी रखना चाहते हैं । वैसे प्रचलित मतों के विरुद्ध वह और बहुत सी आपत्तियां उठाते हैं । एक, शक-सम्वत् की स्थापना किसी कुषाण नरेश के द्वारा मानना कठिन है क्योंकि कुषाण शक जातीय नहीं थे । दो, कनिष्क को ७८ ई० में रखने पर पो-तियाओ की पहिचान प्रथम वासुदेव से करना भी कठिन लगता है और द्वितीय वासुदेव से भी । तीन, घिर्शमा के मत को मानने से विम और कनिष्क के बीच में काफी बड़ा अन्तराल रह जाता है । इसे सोटर मेगस से नहीं भरा जा सकता क्योंकि वह सम्भवतः कुजूल से अभिन्न था । घिर्शमा का मत इस पूर्वाग्रह पर आधारित है कि 'बेग्राम २' का विनाश प्रथम शापुर के हाथों २४१ ई० के बाद हुआ और उस समय वहां प्रथम वासुदेव शासन कर रहा था । परन्तु प्रथम वासुदेव के जिन आठ सिक्कों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है उन्हें घिर्शमा ने कभी प्रकाशित नहीं किया । फिर, 'बेग्राम ३' से प्रथम वासुदेव के उत्तराधिकारियों के सिक्के मिलते हैं जो सासानी प्रभाव से एकदम अछूते हैं । यह असम्भव था अगर प्रथम शापुर ने 'बेग्राम २' को जीत लिया होता । कुषाण-सासानी-मुद्रामाला पर भी प्रथम वासुदेव के सिक्कों का नहीं वरन् द्वितीय वासुदेव के सिक्कों का प्रभाव मिलता है । ये तथ्य वहां कुषाण सत्ता के सातत्य का प्रमाण हैं । इसलिए किसी सासानी नरेश ने अगर कुषाण सत्ता का उन्मूलन किया था तो उसका शिकार वासुदेव रहा होगा न कि प्रथम वासुदेव । परन्तु क्या प्रथम शापुर ने बेग्राम को सचमुच ही ध्वस्त किया था ? यहां यह स्मरणीय है कि 'बेग्राम २' या 'बेग्राम ३' से शापुर या किसी भी सासानी नरेश की मुद्राएं नहीं मिलती । यह सही है कि 'बेग्राम २' और 'बेग्राम ३' के बीच राख की एक हल्की परत मिली थी, परन्तु इसका कारण प्रथम शापुर द्वारा लगाई गई आग ही थी यह प्रमाणित नहीं किया जा सका है । इस राख के साथ हथियार आदि न मिलने से लगता है कि यह प्राकृ-

तिक कारणो से लगी आग रही होगी। इस प्रकार 'बेग्राम २' के साक्ष्य से प्रथम वासुदेव की तिथि तीसरी शती का मध्य और तदनुसार प्रथम कनिष्क की तिथि दूसरी शती ई० का मध्य प्रमाणित नही होती।

ए० के० नारायण का अपना मत चीनी इतिहास-ग्रन्थो की व्याख्या पर आधारित है एक, होउ हान शू के अनुसार युवान-चू काल (=११४-१६ ई०) मे सू-ले (=काशगर) के राजा आन-कुओ ने अपने मामा छेन-फान को उसके किसी अपराध के कारण युए ची नरेश के पास निष्कासित कर दिया था। युए ची नरेश ने छेन-फान पर बडी कृपा दिखाई और जब आन-कुओ की मृत्यु हो गई तो उसे अपनी सेना के साथ काशगर भेज कर वहा का राजा बना दिया। काशगर के लोग युए ची नरेश से डरते थे और छेन-फान को पसन्द करते थे इसलिए उन्होने छेन-फान को अपना राजा मान लिया। नारायण के अनुसार यह युए.ची नरेश प्रथम कनिष्क था क्योकि शी-यू-की मे शुआन-च्वाग ने चीन के एक करद राज्य द्वारा, जो पीत नदी के पश्चिम की तरफ स्थित था और कनिष्क से डरता था, कनिष्क के पास राजकुमार (या राजकुमारो) को बन्धक रूप मे भेजने का उल्लेख किया है। कनिष्क ने उनके साथ बहुत कृपापूर्ण व्यवहार किया। नारायण के अनुसार यह राज्य सू-ले (=काशगर) रहा होगा। कपिशा मे शा-लो-क्या नामक बौद्ध मन्दिर, जिसकी चर्चा हुई-ली ने शुआन च्वांग की जीवनी मे की है शायद इसी राजकुमार के लिए बनवाया गया था। शा-लो-क्या नाम सू-ले से व्युत्पन्न हो सकता है हालाकि हुई-ली का यह कथन गलत है कि बन्धक रूप मे भेजा गया राजकुमार चीनी सम्राट् का पुत्र था। चीनी तुर्किस्तान मे कनिष्क के सिक्के प्रचुर सख्या मे मिलना भी काशगर पर उसके प्रभुत्व का सकेत देता है। इस प्रकार चीनी साहित्य से प्रमाणित है कि कनिष्क ११४ ई० मे शासन कर रहा था। इस तिथि को उसके शासन के २३ वर्षो का मध्य बिन्दु मानकर उसका राज्यारोहण १०३ ई० मे रखा जा सकता है और उसके शासन का अन्त १२५ ई० मे। नारायण का विचार है कि समस्त उपलब्ध अभिलेखिक, मौद्रिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य एव तत्कालीन इतिहास के समस्त ज्ञात तथ्य इस निष्कर्ष के साथ सगत हैं। उनका दूसरा लेख पश्च लेख है जिसमे उन्होने मत की सगति विविध साक्ष्य से दिखाई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अगला लघु लेख लुसियानो पिटेक (Luciano Petech) का है (पृ० २४४–६) जिसमे उन्होने कनिष्क की तिथि पर कश्मीरी और तिब्बती साक्ष्य का विश्लेषण किया है। कनिष्क और कुषाणो की चर्चा हिमालय के राज्यो मे कम ही मिलती है। कश्मीर मे उनका उल्लेख केवल राजतरंगिणी (११६८-७१) मे मिलता है जिसमे हुष्क जुष्क और कनिष्क की इस क्रम से चर्चा हुई है। परन्तु इस उल्लेख से कनिष्क की तिथि के विषय मे कोई सहायता नही मिलती। तिब्बत मे कनिष्क के विषय मे स्वदेशी अनुश्रुतियाँ तो नही मिलती, मध्य एशियाई और भारतीय अनुश्रुतियो के कुछ तिब्बती सस्करण मिलते हैं। एक मध्य एशियायी अनुश्रुति-लीदेश

की भविष्यवाणी-के अनुसार क-नि-क (=कनिष्क), गू जन (=गू चेन? कूचा ?) नरेश, एव ली (=खोतन) के राजा विजयकीर्ति व अन्य कुछ नरेशो ने सम्मिलित रूप से भारत पर आक्रमण किया था और सो-कैद (=साकेत) पर अधिकार कर लिया था। इस अनुश्रुति से कनिष्क का तारिम की उपत्यका पर अधिकार सकेतित है परन्तु विजयकीर्ति की तिथि अज्ञात होने से इससे तिथि विषयक सहायता नहीं मिलती। भारतीय सामग्री मे, जो तिब्बती रूप मे मिलती है, महाराज कनिक लेख भी तिथि विषयक सहायता नही देता। तारानाथ कनिष्क और क नि-क मे अन्तर करता है, परन्तु उसके पूर्वगामी इतिहासकार ऐसा नही करते। यहा पश्चिमी हिमालय मे जास-द् कर (Zans-dkar) की घाटी मे कनिष्क-विहार (क-नि कई त्जो०-पा) का अस्तित्व भी उल्लेखनीय है, लेकिन उससे प्राप्त परन्तु अब तक अप्रकाशित लेख मे कनिष्क का नाम नही मिलता। बु-स्तोन तथा सुम्-पा-म्खान-पो (Sum pa-mk'an-po) आदि तिब्बती इतिहासकारो द्वारा प्रदत्त यह अनुश्रुति कनिष्क की तिथि के विषय मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जा सकती है कि कनिष्क ने परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद (बु-स्तोन द्वारा प्रदत्त एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार ३६० वर्ष बाद) कश्मीर मे एक बौद्ध सगीति का आयोजन किया था, परन्तु यह कथन परिनिर्वाण की तिथि विषयक किस परम्परा पर आधारित है, यह स्पष्ट नही है।

कनिष्क की तिथि के विषय मे चीनी साक्ष्य का विवेचन इ० जी० पुलीब्लैंक (E G Pulleyblank) ने अपने लेख मे किया है (पृ० २४७-५८)। कनिष्क का नाम चीनी बौद्ध साहित्य मे लग० ४०० ई० से एक महान् बौद्ध नरेश के रूप में मिलता है यद्यपि उन उल्लेखो से उसकी तिथि पर कोई प्रकाश नही मिलता। चीनी इतिहास-ग्रथो के कुषाण विषयक अशो मे यह अनुल्लिखित है। परन्तु होउ हान शू में कुजूल कडफिसिज और विम कडफिसिज के शासन काल का वर्णन मिलता है और मुद्राओ एव अभिलेखो से स्पष्ट है कि कनिष्क ने उनके लगभग तत्काल बाद शासन किया, इसलिए यह वर्णन कनिष्क की तिथि के लिए बडा महत्वपूर्ण है। अब होउ हान शू का लेखक फान ये (५ वी शती) सूचित करता है कि उसने 'पश्चिमी प्रदेशो' (पामीर और तुग हुआग का मध्यवर्ती प्रदेश) का वर्णन पूर्णत पान युग द्वारा आन-ती के शासन (१०७-१२५ ई०) के अन्तिम वर्षो मे दी सूचनाओ के आधार पर लिखा था। यद्यपि फान-ये का यह कथन शब्दश सही नही है क्योकि उसकी कुछ सूचनाओं का स्रोत निश्चय ही पान-युग का प्रतिवेदन नही था, परन्तु यह मानने का भी कोई कारण नही है कि इस अध्याय का १२५ ई० तक का अश प्रधानत पान-युग द्वारा प्रदत्त सूचनाओ के आधार पर नही लिखा गया था। इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि इस अश मे युए-ची राजधानी की स्थिति बताते समय उसकी दूरी 'प्रधान प्रबन्धक (= पान-यु ग) के प्रशासन केन्द्र,' अर्थात् उस नगर से जिससे पान-यु ग 'पश्चिमी प्रदेशो' का प्रबन्ध करता था, बताई गई है। इसका अर्थ यह हुआ कि होउ हान शू मे कुषाण इतिहास के विषय मे १२५ ई० तक की सूचनाए मिलती

हैं क्योकि यह नही माना जा सकता कि पान-युग ने, जो एक सेनापति था इतिहास-कार नही, अपने प्रतिवेदन में अपने समय से ५० वर्ष पूर्व तक की घटनाओ को ही लिखा होगा। यह निष्कर्ष कनिष्क को ७८ ई मे रखने वाले मत के लिए घातक है क्योकि पान-युग के प्रतिवेदन मे कनिष्क का कही भी उल्लेख नही है। दूसरे, हान शू और होउ हान शू दोनो मे युए ची जाति का पुराना इतिहास मिलता है परन्तु उनमे एक महत्वपूर्ण अन्तर है। हान शू मे बताया गया है कि ता-शिया मे बसने के बाद युए ची पाच शीहोऊ (कबीले या अधीन राज्य) मे विभाजित हो गई थी शियु-मी, शुआग-मी, कुई-शुआग (=कुषाण), शी-तुन तथा काओ-फू। इस ग्रन्थ मे कुजूल और विम की चर्चा नही आती। होउ हान शू मे भी इन पाच शी-होऊ को गिनाया गया है और बताया गया है कि छिउ-चिउ-चुए (=कुजूल कडफिसिज) ने, जो कुई-शुआग का नेता था, पाचों शी-होऊ को सयुक्त किया। लेकिन यहा इनकी सूची देते हुए काओ-फू के स्थान पर तु-मी नाम दिया गया है और यह स्पष्टत कहा गया है कि काओ-फू (=काबुल) कभी भी युए ची का अग नही था, इसे सर्वप्रथम कुजूल ने आन-शी (=पार्थिया) को परास्त करके जीता था। जैसा कि शावानीज ने कहा है, इसका मतलब यह हुआ कि हान शू के उपर्युक्त अश के लिखे जाने के समय ही, जिसमे काओ-फू को युए ची का अग बनाया गया है, कुजूल कडफिसिज का न केवल राजा के रूप मे जीवन आरम्भ हो चुका था वरन् वह काबुल भी जीत चुका था। प्रश्न उत्पन्न होता है कि हान शू के इस अश की रचना कब हुई? इस ग्रन्थ मे प्रारम्भिक हान वश का २०६ ई पू से २५ ई. तक का इतिहास दिया गया है, परन्तु इसकी रचना की थी मूलत पान-पियाओ (मृ० ५४ ई०) ने। उसके बाद इसे आगे लिखा ८० ई के लगभग उसके पुत्र पान-कू ने (मृ० ९२ ई०) और सम्पूर्ण किया पान-कू की बहिन पान-चाओ ने (मृ० ११६ ई०)। इस ग्रन्थ के आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर पुलीब्लैंक का अनुमान है कि पाच शी-होऊ के विषय मे जो सूचना इस ग्रन्थ मे मिलती है वह पान-कू ने ७४-७५ ई० मे अपने भाई पान-छाओ (जिसने बाद मे कुषाण सेनापति सी को परास्त किया था) से प्राप्त की थी जब पान-छाओ पहिली बार पश्चिमी प्रदेशों मे भेजा गया था। इसलिए इस वर्णन को ७४-७५ की राजनीतिक स्थिति का वर्णन माना जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि इस तिथि तक कुषाण नरेश कुजूल शेष चारो युए ची कबीले तो पूरी तरह नही जीत पाया था परन्तु काबुल पर विजय प्राप्त कर चुका था। दूसरे शब्दो मे ७४-५ ई० मे, उसका शासन चल रहा था। उस अवस्था मे कनिष्क ७८ ई० मे सिंहासनारूढ हुआ कैसे माना जा सकता है?

कनिष्क को ७८ ई० के काफी बाद रखने के पक्ष मे एक अन्य सकेत तारिम-उपत्यका पर कनिष्क के प्रभुत्व की सम्भव तिथि से मिलता है। ली देश की भविष्य-वाणी नामक परवर्ती बौद्ध ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि खोतन का राजा विजयकीर्ति

साकेत पर आक्रमण किए जाने के समय कनिष्क के साथ था (दे०, पीछे पिटेक का लेख)। दूसरे, लोपनोर प्रदेश के लोउ लान राज्य मे तीसरी शती ई० मे पश्चिमी भारतीय प्राकृत भाषा प्रशासन की भाषा के रूप मे प्रचलित थी। गान्धारी धर्मपद जैसे ग्रन्थ की खोतन मे उपलब्धि को बौद्ध धर्म के प्रचार का परिणाम कहा जा सकता है परन्तु एक विदेशी भारतीय भाषा का प्रशासन की भाषा के रूप मे प्रयोग कुषाण प्रभुत्व की स्थापना का परिणाम ही हो सकता था।' तीसरे, स्टीन को खोतन से कनिष्क और हुविष्क की, और केवल इन्ही कुषाण राजाओ की, ताम्र मुद्राए मिली थी। जैसा कि मैक्डावल ने कहा है, ये मुद्राए वहा कुषाण प्रभुत्व का परिणाम और प्रमाण मानी जा सकती हैं क्योकि यह सम्भव नही लगता कि ताम्र के सिक्के वहा व्यापारियो द्वारा उस प्रकार ले जाए गए होंगे, जिस प्रकार रजत और सुवर्ण मुद्राए ले जाई सकती थी। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि तारिम-उपत्यका पर कनिष्क ने कब अधिकार किया ? एक कुषाण आक्रमण ६० ई० मे हुआ था, परन्तु उसे पान-छाओ ने असफल कर दिया था। ११४ ई० मे काशगर पर छेन-फान ने कुषाणो की मदद से अधिकार किया था परन्तु वह काशगर का ही रहने वाला था और उसने वहा पहले स्वतन्त्र रूप मे शासन किया और बाद मे चीनी प्रभुत्व के अन्तर्गत। जब १२३ ई० मे पान-यु ग "पश्चिमी प्रदेशो" मे आया तो उसे वहा कुषाण प्रभुत्व का सामना नही करना पडा था। पुलीब्लैंक के अनुसार इस बात के कि चीनियो का "पश्चिमी प्रदेशो" पर प्रभुत्व १७५ ई० तक बना रहा था, छिट-पुट सकेत मिलते हैं। परन्तु १७५ से २०३ ई० के युग के लिए चीनी साक्ष्य तारिम-उपत्यका के विषय मे मौन हैं। इसलिए वहा कुषाण प्रभुत्व १७५-२०३ ई० मे रहा होगा। ठीक इसी समय युए ची जाति के धर्म-प्रचारको के चीन पहुचने की चर्चा (ज्युर्चेर, दि बुद्धिस्ट कान्क्वेस्ट ऑव चाइना, पृ० ३६, ४८ अ०) और उनके द्वारा उस गान्धारी प्राकृत में, जिसका प्रयोग उस समय खोतन मे मिलता है, लिखित ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद और १८४ ई० मे लघु युए ची का चीनियो के विरुद्ध विद्रोह (जो उनके जातिभाइयो महायुए ची अर्थात् कुषाणो द्वारा प्रेरित रहा होगा), आदि तथ्यो से इसका समर्थन होता है। लेकिन कनिष्क के नेतृत्व में कुषाणो का १७५–२०२ ई० के बीच तारिम-उपत्यका पर अधिकार तभी सम्भव था जब हम घिर्शमा का अनुकरण करते हुए कनिष्क का राज्यारोहण १४४ ई० मे मानें। उसका अन्तिम लेख ४१ वें वर्ष का है। इसलिए उसने १८५ ई० तक अवश्य ही शासन किया होगा। उसके बाद कुछ समय के लिए खोतन पर हुविष्क का अधिकार रहा होगा।

जान एम० रोजेनफील्ड ने अपने लेख (पृ० २५६–७७) मे कनिष्क की तिथि पर कला के इतिहासकार की दृष्टि से विचार किया है। वह वान लो हुईजेन द लियु के इस मत से सहमत है कि कुछ कुषाण मूर्ति अभिलेखो मे तिथि देते समय १०० का अक छोड दिया गया है। उन्होंने पहिले मथुरा के माट स्थल मे स्थित कुषाण 'देवकुल', गोकर्णेश्वर टीले व अन्य स्थलो से प्राप्त 'स्कीथियन' मूर्तियो का अध्ययन

किया है। इसके उपरान्त हुविष्क (?) की मूर्ति पर उपलब्ध अभिलेख की व्याख्या करके निष्कर्ष निकाला है कि कनिष्क-सम्वत् के ४० वर्ष बाद किसी समय माट देवकुल के भवन के जीर्णोद्धार की आवश्यकता आ पडी थी। रोजेनफील्ड का अनुमान है कि इसका कारण रुद्रदामा का आक्रमण और कुषाणो का आन्तरिक सघर्ष था। इसलिए वह कनिष्क की तिथि रुद्रदामा की ज्ञात तिथि १५० से करीब ४० वर्ष पूर्व (११०–१५ ई०) मानते हैं। अपने लेख के अन्त मे रोजेनफील्ड ने मथुरा के १०५ मूर्ति-अभिलेखो की सूची, उनके प्राप्ति स्थल और पठनीय सामग्री के उल्लेख सहित, एक परिशिष्ट रूप मे दी है।

दिनेशचन्द्र सरकार ने अपने लेख (पृ० २७८–९२) मे कनिष्क की तिथि पर प्रकाश देने वाले पुरालिपि विषयक एव अभिलेखिक साक्ष्य पर विचार किया है। पुरालिपिशास्त्र की दृष्टि से मथुरा से प्राप्त कुषाण अभिलेख गुप्त अभिलेखो से प्राचीनतर और शक-क्षत्रप शोडास के अभिलेखो से बाद के हैं और शोडास के अभिलेख हेलियोदोर के बेसनगर-अभिलेख (द्वितीय शती ई० पू० का अन्तिम पाद) से परवर्ती हैं। लिपिशास्त्र इस विषय मे हमारी और सहायता नही करता सिवाय इसके कि इसको दृष्टि मे रखने पर कनिष्क को प्रथम शती ई० पू० मे रखना भी कठिन है (क्योकि कनिष्क और गुप्त अभिलेखो की लिपि मे चार शती लम्बा अन्तर नही हो सकता) और तीसरी शती ई० मे भी (क्योकि इन लेखो की लिपि मे इतना कम अन्तर भी नही है कि इन राजाओ के बीच केवल एक शती का समय व्यतीत हुआ माना जाए)।

कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण तथ्य उसके समय से एक सम्वत् का प्रारम्भ है। इस विषय मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत मे सम्वतो मे काल गणना की प्रथा विदेशियो ने शुरू की थी। जो भारतीय सम्वत्, जैसे कलियुग-सम्वत्, निर्वाण-सम्वत् और महावीर-सम्वत्, शक-पह्लव युग से पहिले शुरू हुए माने जाते हैं उनका प्रवर्त्तन वास्तव मे बाद मे हुआ, उनकी गणना मात्र पीछे से की गई है। इसके पूर्व भारतीय नरेश—मौर्य, शुंग और सातवाहन सभी—अपने-अपने अभिलेखो मे अपने शासन का वर्ष लिखवाते थे। लेकिन भारत मे आते समय शक पह्लव नरेश ऐसे प्रदेशो से होकर गुजरे जहा ३१२ ई० पू० का सेल्युकस-सम्वत् तथा २४८ ई० पू० का पार्थियन-सम्वत् प्रचलित थे। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि उन्होने भारत मे सम्वतो मे काल गणना की। अब शक-पह्लव-कुषाण युग मे भारतीय अभिलेखो मे दो सम्वतो का प्रयोग मिलता है. एक, शोडास आदि के अभिलेखो मे प्रयुक्त सम्वत् जिसे 'प्राचीन शक-पह्लव-सम्वत्' कहा जा सकता है और दूसरा, कनिष्क-सम्वत्। इन दोनो के प्रवर्त्तन मे एक शती से अधिक का अन्तर अवश्य ही था। शोडास का एक अभिलेख 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' के ७२वें वर्ष का है और मथुरा पर शोडास के बाद और कनिष्क के पूर्व कुछ अन्य शक क्षत्रपो ने भी शासन किया था। इसी प्रकार पञ्जतार-अभिलेख, जिसमे प्रारम्भिक कुषाणों का उल्लेख है,

'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' के १२२ वें वर्ष का है। इसलिए इस 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' और कनिष्क-सम्वत् मे १२२ से कुछ अधिक वर्ष का अन्तर अवश्य रहा होगा। अब, यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि भारत के दो प्राचीन सम्वतो— कृत-मालवा-विक्रम-सम्वत् और शक-सम्वत्—मे, जो शक पह्लव-कुषाण युग मे प्रवर्तित हुए ५७+७८=१३५ वर्ष का अन्तर है। इसलिए उपर्युक्त 'प्राचीन-शक—पह्लव सम्वत्' को कृत-मालव-विक्रम-सम्वत् से और शक-सम्वत् को कनिष्क-सम्वत् से अभिन्न माना जा सकता है। जो विद्वान् 'प्राचीन-शक-पह्लव-सम्वत्' और कनिष्क-सम्वत् की पहिचान क्रमश विक्रम और शक-सम्वत् से नही करते और इन्हें चार पृथक्-पृथक् सम्वत् मानते हैं वे न तो 'प्राचीन-शक-पह्लव', विक्रम और शक सम्वतो की उत्पत्ति की व्याख्या कर पाते हैं और न 'प्राचीन-शक-पह्लव' और कनिष्क-सम्वतो के प्रचलन के बन्द हो जाने का कारण बता पाते हैं। इसके विपरीत 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' को विक्रम-मालव सम्वत् से अभिन्न मानने के पक्ष मे भारतीय-पह्लव नरेश गोण्डोफर्निज के शासनकाल के २६वें वर्ष का तख्त-ए-बाही अभिलेख है जिसमे स्पष्टत 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' का १०३ वर्ष उल्लिखित है। विदेशी ईसाई अनुश्रुतियो के अनुसार सन्त टॉमस प्रथम प्रथम शती के तीसरे पाद मे (२६ या ३३ ई० मे ईसा की शहादत के बाद) गोण्डोफर्निज के दरबार मे आए थे। उसके द्वारा प्रयुक्त सम्वत् को विक्रम सम्वत् मानने पर उसकी तिथिया २१–४६ ई० पडती हैं जो इस परम्परा के साथ सर्वथा सगत हैं। कनिष्क का शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मानने के पक्ष मे भी कुछ अन्य प्रमाण उपलब्ध हैं। एक, कनिष्क के विषय मे कहा जाता है कि उसे तीन दिशाओ मे विजय प्राप्त कर लेने के बावजूद उत्तर को न जीत पाने का बडा दुख था और चीनी साक्ष्यानुसार चीनी सेनापति पान-छाओ ने ९० ई० मे एक कुषाण सम्राट् को हराया था। कनिष्क को ७८ ई० मे रखने पर ये दोनो परम्पराए सगत हो जाती हैं। दो, रूसी पुरातत्त्ववेत्ताओ द्वारा की गई तोप्रक-कला की खुदाई से ७८ ई० विषयक मत का समर्थन होता है (दे० नीचे, तोल्स्तोव का लेख)। तीन, मघो ने शक-सम्वत् का प्रयोग किया लगता है। इसे उन्होंने स्पष्टत कुषाणो से लिया होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले दो लेख रूसी विद्वानो के हैं। इनमे पहला बी० स्ताविस्की (B Stavıskıy) का है (पृ० २९२–३०३) जिसमे उन्होंने रूसी क्रान्ति के अनन्तर सोवियत विद्वानो द्वारा मध्य एशिया मे किए गए कुषाण इतिहास विषयक उत्खनन और शोध कार्यों की समीक्षा की है। इसके बाद एस० पी० तोल्स्तोव (S P. Tolstov) का लेख है (पृ० ३०४–३२६) जिसमे ख्वारिज्म की प्राचीन राजधानी तोप्रक-कला (बिरूनी से ३० कि० मी० उत्तरपूर्व की ओर स्थित) के राज प्रासाद से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री के प्रकाश मे कनिष्क-सम्वत् की पहिचान निर्धारित करने की चेष्टा की गई है। तोप्रक-कला की मूर्तिकला, चित्रकला और मृद्‌माण्डकला भारत की गन्धार और अजन्ता शैलियो से प्रभावित थी। ख्वारिज्म

के कई स्थलो से कुषाण सिक्के मिले हैं। तोप्रक-कला से भी २२ कुषाण सिक्के मिले हैं जिनमे ४ विम के हैं, ३ कनिष्क के, ३ हुविष्क के और ६ वासुदेव के। कुल मिलाकर पुरातात्विक साक्ष्य से यह प्रमाणित है कि ख्वारिज्म कुषाण प्रभुत्व के अन्तर्गत आया था। उसके बाद यहा स्थानीय राजाओ ने शासन किया जिनकी राजधानी तोप्रक-कला थी। कुछ समय उपरान्त उन्होंने अपनी राजधानी को तोप्रक-कला से हटा कर क्यात (=बिरूनी) मे स्थापित किया। राजधानी का यह परिवर्तन अफ्रिग (Afrig) नामक नरेश के शासन काल मे हुआ। अलबरूनी के अनुसार उसने ३०५ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया था (इस सूचना का समर्थन मौद्रिक साक्ष्य से भी होता है) इसलिए यह राजधानी परिवर्तन चौथी शती ई० के प्रथम पाद में कभी हुआ होगा। यह सूचना पुरातात्विक और आभिलेखिक तथ्यो से पूर्णत सगत है। तोप्रक-कला राजप्रासाद बहुत विशाल था परन्तु यह बहुत कम समय प्रयोग मे आया। इसके सभी कक्षो मे एक ही स्तर मिला है और पुनर्निर्माण के निशान बिल्कुल नही मिलते। इसका अर्थ यह हुआ कि इसे कुषाण प्रभुत्व का अन्त होने के कुछ बाद मे, तोप्रक-कला के इतिहास के अन्तिम दौर मे, बनाया गया था और लगभग तत्काल बाद त्याग दिया गया था। अन्य पुरातात्विक साक्ष्य से भी स्पष्ट है कि इसे तीसरी शती के अन्त और चौथी शती ई० के प्रारम्भ मे कभी त्यागा गया था। इस तथ्य के प्रकाश मे तोप्रक-कला राजप्रासाद से प्राप्त वे अभिलेख जिन पर तिथिया लिखी हैं, बडे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यहा से कुल मिलाकर करीब सौ लेख मिले हैं जिनकी भाषा ईरानी परिवार की है और लिपि आर्मीनी परिवार की। ये काष्ठ और चर्मपत्रो पर लिखे हुए हैं। इनमे चार पर, जो प्रशासन और वित्त से सबधित हैं, किसी सम्वत् मे तिथियाँ लिखी हैं जिनमे तीन पढी जा सकती हैं–२०७, २३१ और २३२ (या २२२)। इनमे २३२ का लेख स्पष्टत. तोप्रक-कला राजप्रासाद के अन्तिम वर्षों अर्थात् चौथी शती ई० के प्रारम्भिक दशको का है, इसलिए इसमे प्रयुक्त सम्वत् चौथी शती के प्रारम्भ के २३२ वर्ष पूर्व अर्थात् प्रथम शती ई० के अन्तिम पाद मे शुरू हुआ होगा, और ऐसा एक मात्र एशियायी सम्वत् ७८ ई० का शक सम्वत् है। इसको तोप्रक कला राजप्रासाद के अभिलेखो मे प्रयुक्त मानने मे अन्तिम लेख की तिथि ७८+२३२=३१० ई० निर्धारित होती है जो पुरातात्विक तथ्यो और अफ्रिग के काल मे (राज्यारोहण ३०५ ई०) तोप्रक-कला के त्याग विषयक परम्परा से पूर्णत सगत है। अब, यह स्पष्ट है कि ख्वारिज्म मे शक-सम्वत् का प्रचलन कुषाणो ने ही किया होगा क्योकि वही उसके कुछ पहिले शासन कर रहे थे। अत कनिष्क-सम्वत् और शक-सम्वत् को एक मानना अनिवार्य हो जाता है। अपने लेख के अन्त मे तोल्स्तोव ने घिर्शमा के मत की आलोचना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले दो लेख बौद्ध-परम्पराओ से सम्बन्धित हैं। पहिला लेख ए० के० वार्डर का है ( पृ० ३२६–३६ )। इसमे उन्होंने ध्यान दिलाया है कि सर्वास्तिवादी परम्परानुसार पार्श्व और द्वितीय वसुमित्र ने कनिष्क के तत्त्वावधान मे

आयोजित बौद्ध संगीति मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसके अलावा चरक को कनिष्क का राजवैद्य कहा गया है और मातृचेट ने कनिष्क नामक किसी नरेश के लिए संदेश-पत्र लिखा था। अगर हम इन चारो विद्वानो की तिथिया तय कर सकें तो हमे उनसे कनिष्क की तिथि निर्धारित करने मे सहायता मिल सकती है। इसके लिए उन्होने अत्यन्त जटिल तथा परस्पर विरोधी साहित्यिक परम्पराओ मे कुछ सामञ्जस्य पैदा कर कुछ निष्कर्ष निकाले हैं तथा ७८ ई० विषयक मत का समर्थन किया है। दूसरा लेख फ्रेडरिक विल्हेल्म ( Friedrich Wilhelm ) का है ( पृ० ३३६–४५ ) जिसमें उन्होंने कनिष्क और कनिक तथा अश्वघोष एवं मातृचेट की समस्याओ पर विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि तारानाथ के कनिक को कनिष्क से भिन्न मानने का कोई कारण नही है जबकि मातृचेट और अश्वघोष निश्चय ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। जहा तक तिथिक्रम का सम्बन्ध है उन्हे विश्वास है कि इस विषय मे निर्णायक सूचना पुरातत्त्व से ही मिल सकती है।

अन्तिम लेख इ० ज्युर्चेर ( E Zurcher ) का है जिसमे उन्होने चीनी साहित्य के युए-ची व कनिष्क विषयक अशो का नया अनुवाद प्रस्तुत किया है। लेकिन इसके पूर्व उन्होंने चीनी इतिहास-ग्रन्थो की रचनाविधि व प्रकृति पर भी विचार किया है जिससे चीनी साक्ष्य के विषय मे प्रचलित बहुत से भ्रम दूर हो सकते हैं। चीनी इतिहास ग्रन्थ प्रधानत प्रशासकीय दस्तावेजो, राजकीय आदेशो, इतिवृत्तों, स्मरण-पत्रो, कर सम्बन्धी पत्रो, पदाधिकारियो की सूचियो, और प्रतिवेदनो आदि के आधार पर लिखे जाते थे जो विविध राजकीय अभिलेखागारो मे शताब्दियों तक इकट्ठा होते रहते थे। दूसरे, चीनी इतिहासकार अपने ग्रन्थ प्रधानत शिक्षित राजपुरुषो की सहायतार्थ लिखते थे। वे अपना कर्त्तव्य भूतकाल का इस प्रकार वर्णन करना मात्र मानते थे कि राजपुरुषो को भविष्य के लिए चेतावनी व मार्ग निर्देश मिले। इसलिए इनमे वे विशेषत उनके मतलब की बातो को ही स्थान देते थे, बाकी छोड देते थे। "पश्चिमी प्रदेशों" के विषय मे लिखित सामग्री का चयन तो दो बार होता था, एक बार प्रान्तीय अभिलेखागारो मे और दूसरी बार केन्द्रीय राजधानी मे क्योकि प्रान्तीय अभिलेखागारो के सभी दस्तावेज केन्द्रीय राजधानी नही पहुच पाते थे। हान शू और होउ हान शू मे 'पश्चिमी प्रदेशो' के विषय मे इसी प्रकार की सूचनाए मिलती हैं। उनसे परे स्थित प्रदेशों की तो चर्चा करना भी इनके लेखको के लिए जरूरी नहीं था चाहे वे प्रदेश कितने भी महत्त्वपूर्ण क्यों न होते थे। इसलिए इन ग्रन्थो मे अगर कनिष्क का उल्लेख नही हुआ है तो उससे उसकी तिथि विषयक कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता।

जहा तक कनिष्क की तिथि का सम्बन्ध है ज्युर्चेर उसे '१०० ई० के दो दशक पहिले या दो दशक बाद मे' रखते हैं, इससे अधिक निश्चित नही हो पाते। लेकिन इस विषय मे उन्होंने दो अत्यन्त रोचक बातो की ओर ध्यान दिलाया है। एक, यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि युए-ची ने बैक्ट्रिया और उत्तर भारत को जीतने

के बाद मध्य एशिया जीता—भौतिक साक्ष्य और साहित्यिक अनुश्रुतियां इस विषय में निश्चित संकेत देती हैं। लेकिन ८० ई० तक मध्य एशिया में, जो चीनियों के प्रभावान्तर्गत था, युए-ची की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं मिलता, उल्टे पान-छाओ के ७८ ई० के प्रतिवेदन के अनुसार (होउ हान शू ७७४ ब) उस समय उसे 'आशा थी कि युए-ची जाति चीनी प्रभुसत्ता स्वीकार कर लेगी और उसे' उसकी सहायता कुचा के विरुद्ध मिल जाएगी। लेकिन इसके बाद स्थिति अचानक परिवर्तित हो जाती है और मध्य एशिया में कुषाण प्रभाव एकदम बढ़ जाता है। ८४ ई० से कुछ पहिले युए-ची नरेश ने सोग्दिया के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया। इसके बाद ८६ ई० में कुषाण-नरेश ने चीनी राजकुमारी से विवाह करने का प्रस्ताव किया जो उसकी शक्ति बढ़ने और चीनी सम्राट् से साथ बराबरी का दावा करने का स्पष्ट प्रमाण है। चीनियों की दृष्टि से तो यह उनका असह्य अपराध था। तदुपरान्त ९० ई० में भी उस समय कुषाणों के महत्त्वाकांक्षी कुषाण गवर्नर सी के अभियान और कूचा के निकट उसकी पराजय की चर्चा मिलती है। यह भी उस समय कुषाणों के महत्त्वाकांक्षी होने का संकेत है। इसके बाद ११६ ई० में हम पाते हैं कि युए-ची ने काशगर में हस्तक्षेप किया और अपने पक्षधर छेन-फान को वहां का राजा बनाया। काशगर वालों ने इस हस्तक्षेप को बर्दाश्त किया क्योंकि वे युए-ची से डरते थे। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ८० और १२० ई० के बीच मध्य एशिया में कुषाण प्रभाव एकाएक बढ़ा था। यह प्रभाव विस्तार हो सकता है कनिष्क के उदय के साथ सम्बन्धित हो। दो, एक पर्याप्त प्राचीन (चौथी शती ई० की) कश्मीरी परम्परानुसार सुराष्ट्र के रहने वाले सुप्रसिद्ध बौद्धविद्वान् संघरक्ष कनिष्क के गुरु थे। ताओ-आन के एक ग्रन्थ की भूमिका से भी, जो ३८४ ई० में लिखी गई, हमें यही सूचना मिलती है। इसमें कहा गया है कि अपनी प्रव्रज्या के बाद संघरक्ष सुराष्ट्र से गन्धवती (गन्धार) गए जहां 'चन्दन कनिष्क' ने उन्हें अपना गुरु बनाया। इतना ही नहीं ताओ-आन हमें यह भी बताता है कि यह सूचना उसे स्वयं एक कश्मीरी धर्म प्रचारक संघभद्र से मिली थी। ताओ-आन के ग्रन्थ एवं बुद्धसेन की योगाचार भूमि (जिसे गलती से धर्मत्रात द्वारा रचित माना जाता रहा है) के बुद्धभद्र द्वारा ४१३ में किए गए अनुवाद की भूमिका में सर्वास्तिवादी गुरु-परम्परा में संघरक्ष का नाम वसुमित्र (जिसे सर्वास्तिवादी-परम्परा में कनिष्क द्वारा आयोजित संगीति से सम्बद्ध किया गया है) के ठीक बाद में आता है। इससे भी संघरक्ष और कनिष्क की समकालीनता प्रमाणित है। अब, चीनी 'केटेलॉगो' के अनुसार संघरक्ष के एक ग्रन्थ योगाचारभूमि (पृ० ४०६ पर यह ग्रन्थ योगेश्वरभूमि सूत्र नाम से उल्लिखित है। शायद ज्युर्चेर का आशय मार्गभूमि सूत्र से है) अथवा उसके एक अंश का चीनी भाषा में अनुवाद सुप्रसिद्ध पार्थियन धर्म-प्रचारक आन शि-काओ ने किया था। क्योंकि इस अनुवाद की भाषा बड़ी पुरानी है, इसलिए इसे आन शि-काओ की रचना मानने में किसी को शंका नहीं है। आन शि-काओ चीन में १४८ ई० में पहुँचा था, इसलिए वह पार्थिया से करीब १४० ई० में चला होगा क्योंकि बीच में वह कुछ

समय मध्य एशिया मे अवश्य रहा होगा ( जैसा कि सर्वथा स्वाभाविक था और इस मार्ग से जाने वाले लगभग सभी तत्कालीन धर्म-प्रचारक करते थे )। यहा यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि सघरक्ष के ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त करने मे कि वह कश्मीर से पार्थिया पहुच सके, कुछ दशक अवश्य लगे होंगे। इसलिए सघरक्ष और उसके सरक्षक कनिष्क का समय '१०० ई० के कुछ पहिले या कुछ बाद मे' रखना ही उचित होगा। हर हालत मे यह प्रमाण १४४ ई० वाले मत के लिए घातक है।

इसके बाद ज्युर्चेर के लेख मे चीनी ग्रन्थो के उद्धरणो के अनुवाद दिए गए हैं जिन्हे उन्होने दो भागो मे बाँटा है, एक, ऐतिहासिक और भौगोलिक ग्रन्थो से लिए गए उद्धरण, और दूसरे, चीनी बौद्ध साहित्य से लिए गए उद्धरण। अन्त मे परिशिष्ट रूप मे उन्होने चीनी साहित्य मे आए नामो की सूची और उनके कार्लग्रेन द्वारा प्रस्तावित उच्चारण दिए हैं।

पुस्तक के अन्त मे दो परिशिष्ट दिए गए हैं। पहिले (पृ० ३९१-३) मे अलतबरी के ग्रन्थ तारीख के कुषाणो से सम्बन्धित अश का नौल्डेके (Noldeke) द्वारा जर्मन भाषा मे किए गए अनुवाद का डी० एन० मेकेन्जी कृत अग्रेजी अनुवाद दिया गया है और दूसरे मे (पृ० ३९४-४०३) कुषाण इतिहास से सम्बन्धित सोवियत ग्रन्थो की सूची दी गई है। इसके उपरान्त कान्फ्रेन्स मे हुए विचार-विमर्श का जी० एन० आढ्या एव एन० के० वाग्ले द्वारा तैयार किया गया सक्षेप है (पृ० ४०४-४३५)। 'अतिरिक्त परिशिष्ट' रूप मे दानी ने कनिष्क की तिथि से सम्बन्धित चारसद्दा के निकट शेखान ढेरी से प्राप्त तीन रेडियो कार्बन तिथियाँ दी हैं जो कुल मिलाकर ७८ ई० के पक्ष मे प्रतीत होती है (पृ० ४३६-७)। पुस्तक मे ६ फलक एव अन्त मे काफी विस्तृत अनुक्रमणिका (पृ० ४३८-७८) है।

बैशम द्वारा सम्पादित उपर्युक्त लेखो की समीक्षा करने के पूर्व यह ध्यान दिला देना आवश्यक है कि इन लेखो को पढे गए १३ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस बीच मे कनिष्क की तिथि पर परोक्षत प्रकाश देने वाली बहुत सी सामग्री प्रकाश मे आ चुकी है जिसमे दानी, हुम्बाख तथा गोयल्ल द्वारा प्रकाशित तोची-अभिलेख (एन्शयेण्ट पाकिस्तान १, १९६४, पृ० १२५-३५), प्रथम रुद्रसेन का देवनी-मोरी-लेख (सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, १९६४, पृ० ५१९) चष्टन का ११वें वर्ष का अन्धौ-अभिलेख (शोभना गोखले, जर्नल ऑव एन्शयेण्ट इण्डियन हिस्टरी, २, कलकत्ता, १९७०, पृ० १०४-११) विशेषत महत्वपूर्ण हैं। डेविड पिन्ग्री (David Pingree) ने तो यहाँ तक दावा किया है कि उसने स्फूजिध्वज द्वारा २६९-७० ई० मे रचित यवन जातक के रूप मे एक ऐसा साहित्यिक साक्ष्य खोज निकाला है जिसमे कुषाण-सम्वत् को शक-सम्वत् से पृथक् बताया गया है और जिससे सकेतित है कि कुषाण-सम्वत् २३ मार्च १४४ ई० को प्रारम्भ हुआ था (जर्नल ऑव ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, ३१, १९६४, पृ० १९-३१, बी० एस० ओ० ए० एस०, ३३, १९७०, पृ० ६४६)।

इसके अलावा यहाँ यह भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि इस बीच गोयल्ल ने अपना मत परिवर्तित कर दिया है तथा रोजेन फील्ड का ग्रन्थ 'दि डायनेस्टिक आर्टस् ऑव दि कुषाणाज' (वर्कले एण्ड लोस एन्जलिस, १९६७) प्रकाशित हो गया है। पुलीब्लैंक का 'सम्मेलन' मे प्रस्तुत लेख भी कुछ संशोधन के साथ 'भारती' (वाराणसी, १०–११, १९६६–६८, पृ० ११२–२२) के 'सेन्ट्रल एशिया नम्बर' मे प्रकाशित हो चुका है। इसके अतिरिक्त इस बीच मे ए० डी० एच० बीवर ने सुर्खकोतल-अभिलेख पर अपना अध्ययन प्रकाशित कर दिया है (दि कनिष्क डेटिंग फ्रॉम सुर्खकोतल, बी० एस० ओ० ए० एस०, २६, १९६३, पृ० ४९८–५०२)। इतना ही नही इस बीच मे सितम्बर–अक्टूबर १९६८ मे कुषाण इतिहास पर रूस मे ताजिकिस्तान की राजधानी दुशान्बे में एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो चुका है जिसमे कनिष्क की तिथि पर भी विचार हुआ था। उपर्युक्त लेखो की समीक्षा करते हुए हमे इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा।

जैसा कि इन लेखो के सम्पादक प्रोफेसर बैशम ने अपनी भूमिका मे कहा है, लन्दन-सम्मेलन मे कनिष्क की तिथि पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुचा जा सका, परन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो गया कि अब अधिकाश विद्वान इस कुषाण-नरेश को ७८ से १४४ ई० के बीच मे ही रखते हैं। सम्मेलन मे प्रस्तुत लेखो में केवल डॉ० र०च० मजूमदार का लेख ही एक ऐसा अपवाद है जिसमे २४८ ई० विषयक मत का समर्थन किया गया था। लेकिन इस बीच मे मजूमदार को कुछ और समर्थक मिल गए हैं। एक, आर० गोयल्ल ने, जो १९६० मे मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर कनिष्क को १४४ ई० मे रखने के पक्ष मे थे, १९६४ और १९६७ मे प्रकाशित अपने ग्रन्थो मे उसे, प्रधानत मौद्रिक साक्ष्य के ही आधार, २३० ई० मे रखने का आग्रह किया है (बी० एस० ओ० ए० एस०, ३३, १९७०, के पृ० ६४६ पर उद्धृत)। जर्नल ऑव एशियन हिस्टरी १९६७, मे भी इ० वी० जेमाल (E V Zeymal) नामक एक रूसी विद्वान् का शोध-प्रबन्ध उल्लिखित है जिसमे कनिष्क को तीसरी शती ई० के मध्य रखने का समर्थन किया गया है। दुशान्बे-सम्मेलन मे तो एक सज्जन ने कनिष्क को २७८ ई० मे रखने वाले आर० जी० भाण्डारकर के पुराने मत का समर्थन किया था (जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, २, कलकत्ता, १९६८–९)। लेकिन कनिष्क को अब इतने बाद में रखना न तो सम्भव है और न उचित। मजूमदार ने मौर्योत्तर–और प्राक्-कुषाण युग के राजाओ के औसत शासन काल सम्बन्धी जो तर्क दिया है उसकी सारहीनता इसी से स्पष्ट है कि वह स्वय इस युग मे तो पश्चिमोत्तर भारत मे करीब चालीस राजाओ (२० यूनानी+२०शक-पह्लव) का शासन मानते हैं और अयोध्या और मथुरा आदि मे केवल बीस-बीस का। स्मरणीय है कि इसी तर्क के आधार पर पी० एल० गुप्त ने कनिष्क को १४४ ई० मे रखा है। प्रथम रुद्रदामा और कनिष्क की समकालीनता से बचने के लिए भी कनिष्क को २४८ ई० में रखना आवश्यक नही है, उसे ७८ ई० में रखने पर भी इस दिक्कत

से वचा जा सकता है। कनिष्क को २४८ ई० मे (या २७८ ई०) मे रखने पर उसके इतिहास को चीनी साहित्य से ज्ञात प्रारम्भिक कुपाण इतिहास से सगत करना भी असम्भव हो जाता है। यह मत इस पर्याप्त विश्वसनीय परम्परा के भी एकदम विरुद्ध है कि कनिष्क के गुरु सघभद्र के ग्रन्थ का चीनी भाषा मे अनुवाद १४८–७० ई० मे जान शि-काम्रो ने किया था (दे०, ज्युर्चेर का लेख)। जहाँ तक गोयल्ल के द्वारा किए गए मौद्रिक साक्ष्य के नवीन विवेचन का सम्वन्ध है, प्रस्तुत समीक्षक को इस प्रकार के आत्मनिष्ठ तर्कों मे विल्कुल श्रद्धा नही है। पुरातात्विक और मौद्रिक साक्ष्य प्रकृत्या भौतिक होने और मूल रूप मे उपलब्ध होने के कारण वहुत विश्वसनीय होते हैं, लेकिन अगर उनकी व्याख्या गलत ढग से हो जाती है तो वह हमे भ्रम के वनो मे भटका देते हैं। गोयल्ल के साथ यही हुआ लगता है। उन्होने कनिष्क के लिए प्रस्तावित अपनी नई तिथि २३० ई० का सम्वन्ध तोची से प्राप्त अभिलेखो से भी जोडा है जिनकी चर्चा ऊपर हेल्मुत हुम्वाख के लेख मे हो चुकी है। ये लेख लन्दन-सम्मेलन के उपरान्त १९६४ मे प्रकाशित हुए (एन्श्येण्ट पाकिस्तान, १९६४, पृ० १२५–३५)। इन अभिलेखो मे २३० ई० (गोयल्ल के अनुसार) अथवा २३२ ई० (हुम्वाख के अनुसार) मे प्रारम्भ होने वाला सम्वत् प्रयुक्त है। गोयल्ल ने इसे कनिष्क-सम्वत् माना है परन्तु हुम्वाख ने इसका सम्वन्ध खुरासान पर सासानी विजय से जोडा है।

लन्दन सम्मेलन मे घिर्शमा द्वारा प्रतिपादित इस मत का समर्थन कि कनिष्क ने १४४ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया, दानी, गोयल्ल, पी० एल० गुप्त, तथा पुलीव्लैंक ने किया। इसके तीन वर्ष पूर्व हेराल्ड इघोल्ट ने भी विम कडफिसिज द्वारा तक्षशिला की विजय ९९ ई० मे मानते हुए इस मत का स्थूलत अनुसरण किया था (इघोल्ट, गन्धारन आर्ट इन पाकिस्तान, न्युयार्क, १९५१ और १९५७)। सम्मेलन के उपरान्त डेविड पिन्ग्री ने इसका समर्थन यवन जातक के आधार पर किया है (बी० एस० ओ० ए० एस, १९७०, पृ० ६४६) और वैजनाथ पुरी (इण्डिया अण्डर दि कुषाणज, वम्बई, १९६५, पृ० ३८–५०) ने विना कोई नया तर्क दिए। १४४ ई० के विरुद्ध उठाई जा सकने वाली सवसे वडी आपत्ति इस तिथि का सर्वथा कल्पित और वनावटी होना है। इस तिथि से कोई ज्ञात सम्वत् शुरू नही होता। घिर्शमा की यह कल्पना निश्चय ही वडी अस्वाभाविक है कि कनिष्क ने विक्रम-सम्वत् के ठीक २०० वर्ष वाद शासन करना प्रारम्भ किया था और अपने लेखो मे तिथिया देते समय २०० का अक छोडने की प्रथा चलाई थी। उन्होने इसके समर्थन मे वेग्राम के जिस पुरातात्त्विक साक्ष्य को रखा है उसके विरुद्ध मारीच और नारायण ने अपने लेखो मे (दे०, पीछे) वडे ही सवल तर्क दिए हैं, उनको यहा दोहराना अनावश्यक है। गोयल्ल ने अपने लेख मे इस तिथि का समर्थन मौद्रिक साक्ष्य के आधार पर किया है, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अव वह स्वय इस मत को छोड चुके हैं। पी० एल० गुप्त का तर्क तो मौर्योत्तर और प्राक्-कनिष्क युग मे शासन करने वाले भारतीय नरेशो के शासन की कुल अवधि के विषय मे उनके सर्वथा आत्मनिष्ठ

पूर्वाग्रहो पर आधृत है। वह यह मानकर चलते हैं कि कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, मथुरा और श्रावस्ती मे स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना २१५ ई० पू० मे हो गई थी। यह धारणा एकदम गलत है क्योकि १५० ई० पू० तक इनमे ज्यादातर प्रदेश शुगो के अधीन रहे होंगे। दूसरे, यह मानकर चला ही क्यो जाए कि ये सभी राजा स्वतन्त्र थे ? क्या कौशाम्बी के मघो ने जो कम से कम शुरू मे कुषाणो के अधीन थे अपनी स्वतन्त्र मुद्राए जारी नही की ? स्वय वी० एल० गुप्त के अनुसार अनेक शक क्षत्रपो ने जो शक और कुषाण सम्राटो के अधीन थे अपनी मुद्राए नही चलाई ? और अगर पी० एल० गुप्त द्वारा गिनाए गए कुछ नरेश अपने सिक्के जारी करने के बावजूद पराधीन हो सकते थे तो यह तर्क स्वत निष्प्राण हो जाता है कि कनिष्क का उदय इन राजाओ के पतन के उपरान्त रखना चाहिए। तीसरे, प्रश्न केवल प्राक्-कनिष्क युगीन नरेशो का ही नही है, कुषाणोत्तर और प्राक्-गुप्त युगीन नरेशो का भी है। उदाहरणार्थ, पुराणो के आधार पर हम जानते हैं कि पद्मावती पर कुषाणो के बाद नौ नाग राजाओ ने शासन किया। उनका अस्तित्व मौद्रिक व आभिलेखिक साक्ष्य से भी प्रमाणित है। अब, पी० एल० गुप्त को अपने ही तर्क का अनुसरण करते हुए इन राजाओ के लिए १८×९=१६२ वर्ष का समय देना होगा। परन्तु प्रथम वासुदेव का पतन अगर १४४ के ९८ वर्ष बाद २४२ ई० मे हुआ तो मानना पड़ेगा कि नाग नरेश पद्मावती पर २४२+१६२=४०४ ई० तक शासन करते रहे। यह स्पष्टत असम्भव है। वस्तुत ऐसे तर्कों से कुछ प्रमाणित नही होता। स्मरणीय है कि इस तर्क का कनिष्क की तिथि २४८ ई० सिद्ध करते समय मजूमदार ने भी दिया है। वास्तव मे मजूमदार और गुप्त महाशय यह भूल गए हैं कि इन सब राजाओ के पारस्परिक सम्बन्ध अज्ञात हैं जबकि औसत शासनकाल का तर्क केवल पीढ़ियो पर लागू होता है। उदाहरणार्थ, सिक्को से हमे करीब चालीस यूनानी, शक और पह्लव नरेश ज्ञात हैं जिनके लिए ज्यादा से ज्यादा (कनिष्क को १४४ मे रखने के बावजूद) २०० ई० पू० से १४४ ई० तक का, अर्थात् करीब ३५० वर्ष, समय दिया जा सकता है। इसलिए उनका औसत प्रति राजा १० वर्ष से भी कम पड़ता है जबकि इन्हे ४० पीढ़ी के राजा मानने पर इनके लिए ४०×१८=७२० वर्ष की जरूरत होगी।

कनिष्क को १४४ ई० मे रखने के लिए दानी ने पुरालिपिशास्त्र का सहारा लिया है और पुलीब्लैंक ने चीनी साहित्य का। प्रस्तुत समीक्षक दानी के लिपिशास्त्रीय तर्क के ऊपर अधिकारिक रूप से मत व्यक्त नही कर सकता परन्तु उसे यह अवश्य लगता है कि लिपिशास्त्र के आधार पर अभिलेखो की तिथिया निर्धारित करके इतने निश्चित निष्कर्ष निकालना उचित नही है। यह ध्यान रखना चाहिए कि लिपियो के विकास का इतिहास स्वय अन्य स्रोतो से ज्ञात तथ्यो पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, फ्लीट ने, जो लिपिशास्त्र के पण्डित थे, वाकाटक अभिलेखो की लिपि के आधार पर द्वितीय प्रवरसेन का समय ७वी शती ई० का अन्त माना था जबकि बाद मे यह

प्रमाणित हुआ कि वह द्वितीय चन्द्रगुप्त का दामाद था और उसने पांचवी शती ई० के पूर्वार्द्ध मे शासन किया। दिनेशचन्द्र सरकार के समीक्षित ग्रन्थ मे प्रकाशित लेख कि ये प्रारम्भिक पंक्तियां इस विषय मे स्मरणीय हैं पुरालिपिशास्त्र से किसी अभिलेख की तिथि को एक लघु युग मे निश्चित करने मे सहायता नही मिलती। उसी लिपि के 'स्टैण्डर्ड' और 'कर्सिव' रूप सामान्यत एक ही प्रदेश और युग मे प्रचलित रहते थे क्योकि पुराने ढर्रे के लोग पुरानी लिपि का, जो उनके समय मे लोकप्रिय नही होती थी, प्रयोग करना पसन्द करते थे (पृ० २७८)। अब रहा पुलीब्लैंक का तर्क जो चीनी साक्ष्य पर अवलम्बित है। वह प्रथम कनिष्क को १४४ से १८५ ई० मे रखते हैं और उसकी पहिचान आरा-लेख के कनिष्क से भी करते हैं। परन्तु आरा-लेख का कनिष्क वाभेष्क का पुत्र था और प्रथम कनिष्क को वाष्क का (सुर्ख कोतल-अभिलेख)। पुलीब्लैंक ने चीनी साक्ष्य का जो विश्लेषण किया है। उसका समुचित उत्तर भी ज्युर्चेर के लेख मे मिल जाता है। मूल प्रश्न यह है कि होउ हान शू मे कनिष्क का अनुल्लेख महत्वपूर्ण है या नहीं। क्या इससे यह प्रमाणित होता है कि पान-युग के प्रतिवेदन (१२५ ई०) के समय तक कनिष्क का प्रादुर्भाव नही हुआ था? चीनी इतिहासकारों के उद्देश्य, उनको उपलब्ध सामग्री की प्रकृति इत्यादि को ध्यान में रखते हुए ज्युर्चेर का कहना है कि यह मान्यता अनिवार्य नहीं है। यहां यह ध्यान रखना भी जरूरी है कि पान-युग के प्रतिवेदन मे वर्णित घटनाएं किस समय तक की हैं, स्वय यह प्रश्न विवादग्रस्त है। ए० के० नारायण इसका समय १०० ई० तक मानते हैं (पृ० २४०) और पुलीब्लैंक १२५ ई० तक। इसी प्रकार पान-इयाओ ने जिस अज्ञातनामा कुषाण सम्राट को हराया था उसकी पहिचान कनिष्क के साथ करना भी सम्भव है और विम के साथ करना भी। प्रस्तुत समीक्षक का विचार है कि चीनी साक्ष्य विषयक ये मतभेद कनिष्क की तिथि किसी अन्य स्वतन्त्र प्रमाण के आधार पर अन्तिमरूपेण तय हो जाने के बाद ही दूर हो सकेंगे, उनसे कनिष्क की तिथि तय नही हो सकती।

लन्दन-सम्मेलन के उपरान्त १९६४ मे डेविड पिन्ग्री ने कनिष्क को १४४ ई० में रखने के पक्ष में यवन जातक के साक्ष्य की चर्चा की। उसके अनुसार यह ग्रन्थ स्फुजिध्वज ने २६९–७० मे सम्भवत उज्जैन मे लिखा था। इसके एक श्लोक मे शक-सम्वत् की तिथि को कुषाण-सम्वत् मे बदलने का एक नियम दिया गया है। यह नियम स्पष्ट नहीं है परन्तु इससे पहिले के श्लोक मे एक १६५ वर्षीय युग-चक्र का वर्णन है जो २३ मार्च १४४ ई० पर लागू होता है। अगर यह साक्ष्य विश्वसनीय प्रमाणित हुआ तो इससे न केवल कनिष्क-सम्वत् और शक-सम्वत् भिन्न-भिन्न प्रमाणित हो जाएगे वरन् कनिष्क-सम्वत् का प्रवर्त्तन १४४ ई०मे हुआ मानने को अतिरिक्त आधार मिल जाएगा। परन्तु दुर्भाग्यवश डेविड पिन्ग्री ने यवन जातक को अब तक प्रकाशित नही किया हैं, इसलिए उनके दावे की सत्यता आंकने का कोई उपाय नहीं है। दूसरे, हम ध्यान दिलाना चाहेंगे कि १९६८ ई० मे दुशाम्बे मे कुषाण

इतिहास पर आयोजित अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन मे पिन्नी की खोज की कोई चर्चा नही हुई। अभाग्यवश हमे इस सम्मेलन की पूरी "रिपोट" उपलब्ध नही है परन्तु डॉ० दि० च० सरकार ने, जिन्होने इस सम्मेलन मे भाग लिया था, जर्नल ऑफ एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी के दूसरे अक ( १६६८–६ ) मे इस के विषय मे विस्तृत विवरण प्रकाशित किया है। उसमे उन्होने कनिष्क की तिथि पर पढे गए लेखो की चर्चा भी की है। लेकिन वह उनमे यवन जातक के इस साक्ष्य का कही उल्लेख नही करते जबकि अगर यह साक्ष्य विश्वसनीय होता तो उस सम्मेलन मे सर्वाधिक चर्चा का विषय होता और सरकार द्वारा प्रदत्त विवरण मे इसका विशेषत उल्लेख होता।

लन्दन-सम्मेलन मे दो विद्वानो ने कनिष्क को द्वितीय शती के तीसरे या चौथे दशक (१२०–१४० ई०) मे रखा। एल्चिन ने तक्षशिला की पुरातात्विक सामग्री, विशेषत अहिनपोश स्तूप मे उपलब्ध सिक्को के आधार पर कनिष्क सम्वत् का प्रवर्त्तन १३०–४० ई० के मध्य माना और मैक्डावल ने प्रधानत तक्षशिला के स्तूप न० ४, मणिक्याला-स्तूप और अहिनपोश स्तूप के साक्ष्य के आधार पर १२८–६ ई० में, यद्यपि वह 'यह भी मानते है कि इस साक्ष्य से कनिष्क को ११० ई० मे अथवा उसके बाद १४४ ई० मे रखने वाले मतो का पूर्णत प्रत्याख्यान नही होता'। इसके पूर्व स्टेनकोनो और वान विज्क भी कनिष्क को पहिले १३४ ई० मे और फिर १२८–६ ई० मे रख चुके थे और मार्शल ने १२८ ई० का समर्थन किया था। इसी प्रकार स्मिथ ने कनिष्क को १६०३ मे १२५ ई० मे रखा था और १६१६ मे १२० ई० मे। ये मत ज्यादातर जेडा और उन्द-अभिलेखो की तिथियो मे नक्षत्र-विद्या-सम्बन्धी तथ्यों की वान विज्क द्वारा प्रस्तावित व्याख्याओ पर आधारित थे। वान विज्क ने कनिष्क की तिथियो के लिए पहिले गर्ग सिद्धान्त के आधार पर ७६ ई०, ११७ ई० और १३४ ई० विकल्प रखे और बाद में १२८ ई० का समर्थन किया। मैक्डावल ने अपने लेख मे उपर्युक्त पुरातात्विक सामग्री को ध्यान मे रखते हुए वान विज्क के अन्तिम सुझाव को माना है।

अब, जहा तक अहिनपोश-स्तूप के साक्ष्य का प्रश्न है, प्रस्तुत समीक्षक की दृष्टि मे इससे यह निर्णायक रूप से प्रमाणित नही होता कि कनिष्क ने १२० से १४० के बीच कभी शासन किया था। हुविष्क की अन्तिम ज्ञात तिथि ६० है और प्रथम वासुदेव की पहिली ज्ञात तिथि ६४ या ६७। इसलिए हो सकता है हुविष्क ६७ कनिष्क सम्वत् तक शासन करता रहा हो। अब, अगर हम कनिष्क को ७८ ई० मे रखते है तो हुविष्क का शासन १४५ ई० तक पडेगा। उस अवस्था मे सबीना का १२८ ई० मे जारी किया गया सिक्का हुविष्क के एक नए सिक्के के साथ १४० से १४५ के बीच मे कभी आसानी से दफन किया जा सकता था। रही बात वान विज्क के द्वारा प्रदत्त नक्षत्र-विद्या-विषयक तर्क की, सो यह तो इतना अविश्वसनीय साक्ष्य है कि स्वय वान विज्क इसके आधार पर अपना मत कई बार बदलने को बाध्य हुए।

स्मरणीय है कि गर्ग-सिद्धान्त का अवलम्बन करके वान विज्क ने एक विकल्प ७९ ई० मे भी रखा था जो अन्य साक्ष्य के साथ अधिक सगत है।

लन्दन सम्मेलन मे कनिष्क की दो अपेक्षया नई तिथिया भी सुझाई गई। १०३ (नारायण) तथा ११०–१५ ई० (रोजेनफील्ड)। माट स्थल से प्राप्त हुविष्क (?) की मूर्ति पर प्राप्त अभिलेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल कर कि कनिष्क सम्वत् के ४० से ५० वर्षों के बीच कभी माट देवकुल के जीर्णोद्धार की आवश्यकता पडी थी, रोजेनफील्ड ने निष्कर्ष निकाला है कि इसका कारण उस समय कुशाण वश मे हुआ आन्तरिक संघर्ष और रुद्रदामा का आक्रमण थे। इसलिए वह कनिष्क को रुद्रदामा की तिथि (१५० ई०) के ३५–४० वर्ष पूर्व (अर्थात् ११०–१५ ई० मे) रखते हैं। स्पष्टत. उनका सुझाव अत्यन्त दुर्बल तर्कों पर आधारित है। डेविड पिन्ग्री का यह कथन (बी० एस० ओ० ए० एस०, १९७०, पृ० ६४७) कि रोजेनफील्ड ने अपने मत के समर्थन मे चीनी साक्ष्य का उपयोग किया है एकदम गलत है, रोजेनफील्ड ने चीनी साक्ष्य की कही चर्चा तक नही की है।

ए० के० नारायण ने अपने लेख मे कनिष्क को १०३ ई० मे रखने का सुझाव रखा है। वह होउ हान शू मे चर्चित छेन-फान की पहिचान जिसे बाद मे किसी युए ची नरेश ने काशगर का राजा बना दिया था, शुआन-च्वाग द्वारा उल्लिखित उस राजकुमार या राजकुमारो से करते हैं जो चीन के किसी अधीन राज्य द्वारा कनिष्क के पास बन्धक रूप मे भेजा गया था। परन्तु ये दोनो घटनाए सम्भवत एक दूसरे से भिन्न थी। होउ हान शू मे छेन-फान को काशगर (सू-ले) वालो ने निष्कासित करके युए ची नरेश के पास भेजा था जबकि शुआन-च्वाग के अनुसार वे राजकुमार कनिष्क के पास बन्धक रूप मे भेजे गए थे। दूसरे होउ हान शू मे छेन-फान को काशगर नरेश का मामा बताया गया है जबकि शुआन-च्वाग बन्धक रूप मे रखे गए राजकुमारों को चीनी सम्राट का पुत्र बताता है। तीसरे, शुआन च्वांग के अनुसार ये राजकुमार गर्मी में कपिशा के निकट कनिष्क द्वारा बनाए गए सघाराम मे रहते थे और जाडो मे भारत के विभिन्न स्थानो पर जबकि छेन-फान स्पष्टत स्वय कुषाण-नरेश के पास पुरुषपुर मे रहता था। चौथे शा-लो-क्या सघाराम का नाम स्वय शुआन-च्वाग ने नहीं लिखा है। इसका उल्लेख केवल हुई ली ने जीवनी मे किया है। यह भी सर्वथा सम्भव है कि चीनी राजकुमारो के बन्धक रूप मे आने की कथा पूर्णत काल्पनिक हो और 'चीनामुक्ति' स्थान के नाम की व्याख्या करने के लिए गढ ली गई हो (पृ० ३५५)। जो भी है, ज्युर्चेर और पुलीव्लैंक दोनो नारायण द्वारा चीनी साहित्य के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष से सहमत नही हैं। एक तरफ होउ हान शू मे काशगर मे घटी एक ऐसी स्थानीय घटना का वर्णन है जो किसी भी राज्य मे किसी भी समय घट सकती थी और दूसरी तरफ शुआन-च्वाग ने सम्भवत 'चीनामुक्ति' नाम की व्याख्या करने के लिए जनमानस द्वारा गढी गई एक कथा दी है, दोनो को मिलाना जरूरी नही है। इसके अलावा स्मरणीय है कि १०३ ई० एक सर्वथा अनु-

मानाश्रित तिथि है । इस तिथि से कोई सम्वत् प्रारम्भ नही हुआ । प्रश्न उठता है कि इस प्रकार नए सम्वत् गढ़ने की जरूरत ही क्या है ? १०३ ई० और ७८ ई० में केवल २५ वर्ष का अन्तर है जिसे तोप्रक-कला के साक्ष्य का विवेचन करते हुए नारायण ने स्वय 'अत्यन्त लघु' कहकर महत्त्व नही दिया है । लेकिन लगता है कि नारायण महोदय को नए-नए सम्वत् गढने का कुछ शौक है अपने लेख के परिशिष्ठ मे (उनके ग्रन्थ दि इण्डो ग्रीक्स का छठा अध्याय भी देखें) उन्होने तत्कालीन भारत मे मालव विक्रम सम्वत् (जिसे पता नही वह क्यो किसी अभिलेख की तिथि पर लागू ही नही करते) और शक-सम्वत् के अलावा तीन अन्य सम्वतो का अस्तित्व सुझाया है . १५५ ई० पू० का यवन-सम्वत्, ८८ ई० पू० का पह्लव-सम्वत् और १०३ ई० का कनिष्क-सम्वत् । शायद वह हर तिथिक्रमिक समस्या को सुलझाने के लिए एक नया सम्वत् गढने के पक्ष मे हैं ।

लन्दन-सम्मेलन मे जिस मत को सर्वाधिक विद्वानो का समर्थन मिला उसके अनुसार कनिष्क ने ७८ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया और उसके द्वारा स्थापित सम्वत् ही कालान्तर मे शक-सम्वत् कहलाया । इस मत का समर्थन इसके पूर्व फर्ग्युसन, ओल्डनबर्ग, टॉमस, बनर्जी रेप्सन बेखोफर (Bachhofer) राय-चौधुरी जगन्नाथ अग्रवाल व अन्यान्य विद्वान् कर चुके हैं । इस मत की स्थापना निम्न विचार-श्रेणी से की जा सकती है —

भारत मे शासन करने वाले प्रारम्भिक कुषाण नरेशों को कम से कम दो वर्गों मे अवश्य बाटा जा सकता है—कडफिसिज वर्ग और कनिष्क वर्ग । इनमे कड-फिसिज वर्ग के राजा, कुजूल और विम, पिता-पुत्र सम्बन्ध द्वारा और कनिष्क वर्ग के राजा, जिन्होने कम से कम ९८ वर्ष शासन किया परस्पर कनिष्क-सम्वत् की तिथियो द्वारा जुडे हैं । अब, इतना निश्चित है कि कडफिसिज वर्ग ने पहिले शासन किया, कनिष्क वर्ग ने बाद मे । प्रमाण या प्रमाणत (१) चीनी साक्ष्यानुसार विम पहिला कुषाण राजा था जिसने तिएन-चू (भारत, सिन्धु प्रदेश) को जीता जबकि कनिष्क वर्ग के राजाओ का भारत पर अधिकार शुरू से ही था (२) कडफिसिज वर्ग के राजाओ ने अपने सिक्को पर अपने पूर्वगामी यूनानी और पह्लव राजाओ का अनु-करण करते हुए यूनानी और खरोष्ठी इन दोनो लिपियो का प्रयोग किया जबकि कनिष्क वर्ग के राजाओ ने केवल यूनानी लिपि का (दे०, भास्कर चट्टोपाध्याय, दि एज ऑव कुषाणज, पृ० २०९) । (३) तक्षशिला की खुदाई मे कनिष्क वर्ग के राजाओ की मुद्राए व अन्य सामग्री उपरले स्तरो मे मिली है और कडफिसिज वर्ग की मुद्राए तथा अन्य सामग्री निचले स्तरो मे (मार्शल, जे० आर० ए० एस०, १९१४, टॉमस, वही, १९१३, रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्टरी ऑव इन्शेण्ट इण्डिया पृ० ४१२) । (४) कुजूल ने सुवर्ण मुद्राए जारी नही की, विम और कनिष्क वर्ग के राजाओ ने खूबकी । इसलिए कुजूल को सुवर्ण मुदाए जारी करले वाले कनिष्क वर्ग के बाद रखना उचित नही होगा । (इन तथ्यो के प्रकाश मे फ्लीट और केनेडी का

यह मत जिसमे एक समय डाउसन, कनिंघम और फ्रांके को भी विश्वास था, कि कनिष्क वर्ग के राजाओ ने कडफिसिज़ वर्ग के राजाओ के पूर्व शासन किया और कनिष्क मालव-विक्रम सम्वत् का प्रवर्त्तक था, स्वत निष्प्राण हो जाता है।

कनिष्क वर्ग के राजाओ ने कडफिसिज़ वर्ग के उपरान्त शासन अवश्य किया, परन्तु विम और कनिष्क के बीच मे वहुत अधिक अन्तराल नहीं माना जा सकता। प्रमाण (१) कनिष्क के सिक्को पर विम के सिक्को की गहरी छाप मिलती है, उदाहरणार्थ, 'वेदिका मे वलि देते हुए राजा प्रकार' पर (चट्टोपाध्याय, पूर्वोद्धृत, पृ० ५६)। (२) माट से प्राप्त कनिष्क देवकुल मे विम की मूर्ति भी मिलती है जिस पर 'महाराज राजातिराज देवपुत्र वेम तक्षम' लिखा है। (३) विम के सिक्के अनेक स्थलो से प्राय केवल कनिष्क अथवा मात्र कनिष्क वर्ग के राजाओ के सिक्को के साथ मिलते हैं। इस प्रसग मे निम्नलिखित स्थलो से प्राप्त निधिया उल्लेखनीय हैं जलालावाद, अहिनपोश स्तूप (विम कनिष्क, हुविष्क) रानसिया (विम और कनिष्क), कनहियरा (विम कनिष्क और वासुदेव), काल्का कसौली (विम और कनिष्क), मथुरा (विम, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव), कसिया (विम और कनिष्क), भीटा (विम, कनिष्क और हुविष्क), सञ्चिसा (विम, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव), वुआडीह (विम और कनिष्क), कुम्रहार और वुलन्दी वाग (विम, कनिष्क और हुविष्क) तथा वक्सर (विम, कनिष्क और हुविष्क) (दे०, चट्टोपाध्याय, पूर्वो०, पृ० २३८-८)। इन निधियो से स्पष्ट है कि विम और कनिष्क के बीच मे वहुत अधिक समय नही गुजरा होगा। इस तथ्य से कनिष्क की तिथि निर्धारित करने मे वहुत मदद मिलती है।

भारतीय साक्ष्य से स्पष्ट है कि गुप्तो के पूर्व उत्तर भारत पर नागो, मघो, मालवो तथा यौधेयो आदि ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। मौद्रिक, पौराणिक व आभिलेखिक साक्ष्य के आधार पर उनके लिए स्थूलत १०० वर्ष समय देना होगा। उसके पहिले करीव १०० वर्ष तक कनिष्क वर्ग ने शासन किया। इसलिए कनिष्क का राज्यारोहण लगभग ३५० मे समुद्रगुप्त के उदय के करीव २०० वर्ष पूर्व अर्थात् १५० ई० के बहुत वाद मे नहीं रखा जा सकता। दूसरी तरफ चीनी साक्ष्य से स्पष्ट है कि कुजूल का उदय २५ ई० पू० के वाद (लगभग १२५ ई० पू० मे युए ची के पास चीनी राजदूत चाग-किएन के आगमन के '१०० वर्ष से अधिक वाद मे' हुआ। इसलिए कुजूल का सुदीर्घ शासन प्रथम शती ई० के पूर्वार्द्ध के पूर्व नही पड सकता। उसके सिक्को पर रोमक सम्राट् आगस्टस (२७ ई० पू०–१४ ई० पू०) टाइवेरियस (१४–३७ ई०) और क्लॉडियस (४१–५४ ई०) के सिक्को पर बने 'रोमक सिर' के स्पष्ट प्रभाव और क्लॉडियस के सिक्को पर वनी उठाऊ कुर्सी (क्यूरूल चेयर) मिलने से भी यही प्रमाणित है। दूसरे, उसके पुत्र विम ने गन्धार पर भी शासन किया। लेकिन तख्त-ए-वाही लेख से स्पष्ट है कि ४६ ई० तक तक्षशिला पर गोण्डो-फर्निज़ का शासन था। इसलिए हर हालत मे विम ने गन्धार को ४६ ई० के उप-

रान्त जीता होगा। दूसरी तरफ उसकी यह विजय १२५ ई० के पूर्व अवश्य माननी पडेगी क्योकि होउ हान शू मे अधिक से अधिक उस तिथि तक की घटनाए ही वर्णित हैं। इसलिए विम ने भारत पर विजय ४६ ई० के बाद परन्तु १२५ ई० के पूर्व प्राप्त की। अब, चूं कि कनिष्क ने उसके लगभग तत्काल बाद शासन किया इसलिए कनिष्क का राज्यारोहण भी प्रथम शती ई० के मध्य के उपरान्त और १२५ ई० के पूर्व रखना होगा। और क्योंकि उसके समय से एक सम्वत् का प्रारम्भ हुआ तथा इस बीच मे प्रवर्त्तित एक मात्र ज्ञात सम्वत् शक-सम्वत् है, इसलिए कनिष्क को शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मानना चाहिए।

लन्दन-सम्मेलन मे ७८ ई० का समर्थन एगर मोन्ल ने सर्वास्तिवादी बौद्ध परम्परा की सहायता से किया। परन्तु इन परम्पराओ को इस विषय मे बहुत विश्वसनीय नही कहा जा सकता। बार्डर ने भी कुछ बौद्ध अनुश्रुतियो की सहायता से कनिष्क द्वारा आयोजित सगीति की तिथि का अनुमान करके उसे ७८ ई० मे रखा है। परन्तु जैसा कि पिटेक तथा एफ० विल्हेल्म ने प्रदर्शित किया है, ये अनुश्रुतिया भी सर्वथा अविश्वसनीय हैं। वान लो हुईजेन द लियु ने अपने लेख मे अपनें पुराने ग्रन्थ 'दि स्कीथियन पीरियड' (लीडेन, १९४९) मे प्रदत्त तर्कों को ही आगे बढाया है। लेकिन उनका यह आग्रह, जिसका समर्थन रोजेनफील्ड ने भी किया है, कि कुछ कुषाण मूर्तियो मे तिथि देते समय सैकडे का अक छोड दिया गया है, प्रस्तुत पक्तियो के लेखक को बहुत समीचीन नही लगता। क्या मथुरा के कलाकार मूर्तिया बनाते समय 'नई' और 'पुरानी' दोनो शैलियो का एक ही युग मे प्रयोग नही कर सकते थे ? और अगर ऐसा है तो सैकडे का अक छोडे जाने की कल्पना अनावश्यक हो जाती है।

कनिष्क को ७८ ई० के रखने के पक्ष मे सबसे सबल प्रमाण रूसी विद्वान् तोलस्तोव ने रखा है। उन्होने तोप्रक-कला राजप्रासाद की पुरातात्त्विक और आभि-लेखिक सामग्री की सहायता से यह लगभग निर्विवाद रूप से प्रमाणित किया है कि कुषाणो ने ख्वारिज्म मे शक-सम्वत् का प्रवर्त्तन किया था। वी० स्ताविस्की ने सोवियत मध्य एशिया से प्राप्त अन्य कुषाण सामग्री का उल्लेख कर इस मत का समर्थन किया है। दूसरी तरफ मारीच ने यह प्रदर्शित किया है कि बेग्राम से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री से कनिष्क की तिथि ७८ ई० सकेतित है न कि १४४ ई०, जैसा कि घिर्शमा का विचार था। इस प्रकार कुल मिलाकर पुरातात्त्विक सामग्री ७८ ई० के पक्ष मे है। जहा तक चीनी साक्ष्य का सम्बन्ध है ज्युर्चेर उसके आधार पर कनिष्क को १०० ई० के दो दशक पूर्व या दो दशक बाद मे रखना चाहते हैं। इसलिए उन्हें उसकी तिथि ७८ ई० मानने मे बहुत बाधा नही है। उल्टे, उनका यह तर्क कि मध्य एशिया में कुषाण प्रभाव ८० ई० तक बिल्कुल नही था परन्तु ८०–१२० के बीच यकायक बहुत बढ गया था, कनिष्क को ७८ ई० में रखने के पक्ष में है। इसी प्रकार

उनका यह तर्क भी कि कनिष्क के गुरु संघरक्ष के ग्रन्थ की लगभग १४० ई० में ही पार्थिया में लोकप्रियता से कनिष्क का १४० ई० से कई दशक पूर्व शासन करना संकेतित है, ७८ ई० विषयक मत को बल प्रदान करता है।

भारतीय विद्वानों में सरकार ने ७८ ई० के पक्ष में बड़े युक्तियुक्त प्रमाण दिए हैं। इससे पूर्व वह अपने तर्कों को विक्रम-वॉल्यूम (आर० के० मुकर्जी द्वारा सम्पादित, उज्जैन, १९४८, पृ० ५५७-८६) तथा एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी (बम्बई, १९५१, पृ० १५, २१, १४४) में दे चुके हैं। लन्दन-सम्मेलन के बाद उन्होंने इनका विस्तार से विवेचन अपने ग्रन्थ इण्डियन एपिग्राफी (दिल्ली, १९६५, पृ० २३५-६७) में किया है। उनका यह तर्क निश्चय ही विचारणीय है कि क्योंकि अभिलेखों में प्रयुक्त 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' और कनिष्क-सम्वत् में एक शती से अधिक का अन्तर था और विक्रम तथा शक-सम्वतों में १३५ वर्ष का, इसलिए कनिष्क सम्वत्, की पहचान शक-सम्वत् से की जा सकती है। हम यहाँ उनके समर्थन में एक और तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे। तक्षशिला से उपलब्ध सुप्रसिद्ध रजत पत्र लेख में 'प्राचीन-शक-पह्लव-सम्वत् की १३६ तिथि दी गई है। अब इसमें एक अज्ञातनामा कुषाण नरेश 'महरज रजतिरज देवपुत्र खुषण' का उल्लेख हुआ है। यह अभिलेख या तो विम का है, या कनिष्क का (उसके द्वारा अपने शासनकाल के वर्षों में तिथि देने की प्रथा शुरू करने से पूर्व का) और या उनके बीच में लघु समय के लिए शासन करने वाले किसी अन्य नरेश का। लेकिन हर हालत में इसकी तिथि कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि से बहुत दूर नहीं हो जाती। इसलिए निष्कर्ष अनिवार्य है कि कनिष्क का राज्यारोहण 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' के १३६ वें वर्ष के आस पास हुआ। अतः इस 'प्राचीन-शक-पह्लव सम्वत्' और कनिष्क सम्वत् में करीब १३६ वर्ष का अन्तर होना चाहिये। इसलिए इन सम्वतों की पहचान क्रमशः विक्रम और शक-सम्वतों से करना जिनमें १३५ वर्ष का अन्तर है गलत नहीं होगा। बी० एन० मुकर्जी का यह तर्क भी कि सिन्धु-प्रदेश पर कुषाण शासन के '६० से अधिक वर्ष' (विम से लेकर कम से कम प्रथम वासुदेव के राज्यारोहण तक) रुद्रदामा के सिन्धु-प्रदेश पर अधिकार (१५० ई०) के पूर्व पड़ने चाहिए और इसलिए कनिष्क-सम्वत् १५०-६० = ९० ई० के पूर्व प्रारम्भ हुआ बहुत ही युक्तियुक्त है (मुकर्जी की पुस्तक जीनियोलोजी एण्ड क्रोनोलोजी ऑव दि कुषाणाज, भी देखें)। अन्त में हम इस मत के समर्थन में लन्दन सम्मेलन के अध्यक्ष प्रोफेसर बैशम (भूमिका, पृ० ११-१२, बी० एस० ओ० ए० एस०, १५, पृ० ८०-९७, २०, पृ० ८५-८८) का, जो ७८ ई० के समर्थक हैं, यह तर्क दोहराना चाहेंगे पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों, कौशाम्बी के मघों, नेपाल के लिच्छवियों तथा मध्य एशिया के ख्वारिज्मी शासकों ने शक-सम्वत् का प्रयोग किया (नेपाल में शक सम्वत् का प्रयोग अब प्रश्नातीत तथ्य है दे०, गोयल, प्राचीन नेपाल का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, अध्याय २)। इस प्रकार ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में एक विशाल भू वृत्त में, जिसका केन्द्र

गन्धार और पजाब थे, शक-सम्वत् प्रचलित था। अब, जो विद्वान यह मानते हैं कि शक-सम्वत् कनिष्क-सम्वत् से भिन्न है, वे गन्धार और पजाब मे शक-सम्वत् का प्रचलन सिद्ध नही कर पाते। पर यह कैसे सम्भव है कि यह सम्वत् नेपाल, गगा की उपत्यका पश्चिमी भारत और मध्य एशिया मे तो प्रचलित हो गया हो परन्तु उनके मध्य स्थित गन्धार और पजाव मे अप्रचलित रहा हो ? स्पष्टत इस सम्वत् को नेपाल, मध्य एशिया, गगा की उपत्यका और पश्चिमी भारत मे किसी ऐसी शक्ति ने लोकप्रिय किया होगा जिसका इन सब प्रदेशो पर न्यूनाधिक प्रभाव था और जिसकी शक्ति का केन्द्र पजाब और गन्धार थे। ऐसी शक्ति कुषाण ही थे, इसलिए कनिष्क-सम्वत् और शक-सम्वत् को एक माना जा सकता है। उस अवस्था मे शक-सम्वत् का प्रयोग गन्धार और पजाब मे स्वत प्रमाणित हो जाएगा।

लन्दन-सम्मेलन के उपरान्त कनिष्क की तिथि से परोक्षत सम्बन्धित जो सामग्री प्रकाश मे आई उसमे चष्टन का ११वे वर्ष का अन्धौ-लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है (शोभना गोखले जर्नल ऑव एन्श्येण्ट इण्डियन हिस्टरी, २, १९७०, पृ० १०४-११)। इससे तय हो गया है कि चष्टन शक-सम्वत् ११ (८९ ई०) मे भी शासन कर रहा था। इससे न केवल नहपान की तिथि के विषय मे बहुत सी धारणाएँ भ्रान्त सिद्ध हो गई हैं वरन् शक-सम्वत् के प्रवर्त्तक की पहिचान निर्धारित करने के लिए भी नई सामग्री मिली है। मजूमदार ने इसके आधार पर चष्टन को शक-सम्वत् का प्रवर्त्तक मान लिया है। परन्तु चष्टन की 'महाक्षत्रप' उपाधि से स्पष्ट है कि उसने अपना जीवन एक गवर्नर के रूप मे प्रारम्भ किया था क्योकि 'क्षत्रप' उपाधि उस समय गवर्नर के अर्थ मे ही प्रयुक्त होती थी (दे०, खरपल्लान, हगान हगामश, शिवघोष आदि के उदाहरण। रुद्रदामा का मामला कुछ भिन्न है। उसने 'महाक्षत्रप' उसी प्रकार धारण की लगती है जैसे पुष्यमित्र ने स्वाधीन नरेश बनने के बाद भी सेनापति उपाधि धारण की थी)। दूसरे, हमे ध्यान रखना चाहिए कि चष्टन की मूर्ति कुषाण नरेशो की मूर्तियों के साथ माट के देवकुल मे मिली है। स्पष्टत चष्टन किसी प्रकार से कुषाणो से सम्बन्धित था। इसलिए चष्टन को कुषाणो का निकट सम्बन्धी और गवर्नर मानना जरूरी है, और इसलिए उसके अभिलेख का ११वाँ वर्ष उसके कुषाण स्वामी के शासन का ११वाँ वर्ष होगा। और चूकि यह तिथि शक-सम्वत् की है इसलिए मानना पडेगा कि उसके स्वामी कुषाण नरेश ने भी शक-सम्वत् का प्रयोग किया था।

शक-सम्वत् का प्रवर्त्तन कुषाण नरेश कनिष्क ने किया था, इसकी सम्भावना को अतिरिक्त बल शक नरेश प्रथम रुद्रसेन के शासनकाल के हाल ही मे उपलब्ध देवनीमोरी-पाषाण-पेटिका अभिलेख से मिला है (सरकार, सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स १९६४, पृ० ५१९)। यह लेख १२७ वें वर्ष का है। यह तिथि निश्चित रूप से शक-सम्वत् की है परन्तु इस लेख मे इसे कथिक नृपो के सम्वत् की तिथि बताया गया है (सप्तविंशत्यधिके कथिकनृपाणा समागते (ऽ)ब्द शते)। ये कथिकनृप कौन थे ?

स्पष्टत यहाँ आशय शको के स्वामियो से है जो कुषाण ही हो सकते थे। शायद यहाँ कथिक' शब्द बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले' अर्थ मे प्रयुक्त है क्योकि कुषाण नरेश प्रख्यात बौद्ध थे। यह भी सम्भव है कि 'कथिक' शब्द गलती से 'कणिक'=कनिष्क के बजाय लिखा गया हो। जो भी हो यहाँ शक-सम्वत् को कथिक नृपो का सम्वत् कहा गया है और परिस्थिति से स्पष्ट है कि कथिक नृपो से आशय कुषाणो से है।

अत मे हम बौद्ध ग्रन्थ कल्पना मण्डतिका से ज्ञात एक अत्यन्त रोचक तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे जिसकी चर्चा इस ग्रन्थ पर विचार करते समय (पृ० ३४२) विल्हेल्म ने अपने लेख मे पता नही क्यो नही की है। कल्पना मण्डतिका के लेखक कुमारलात नामक कवि थे जिन्हें अश्वघोष का कनीयस् समकालीन माना जाता है। कुमारजीव ने ४०५ ई० मे इसका चीनी भाषा मे सूत्रालकार नाम से अनुवाद किया और गलती से इसका लेखक अश्वघोष को बता दिया। परन्तु अब चीनी तुर्किस्तान से इसकी सस्कृत पाण्डुलिपि के कुछ अश मिल गए है जिससे सिद्ध हो गया है कि चीनी भाषा मे सूत्रालकार नाम से अनूदित ग्रन्थ वास्तव मे कुमारलात द्वारा रचित कल्पना मण्डतिका था। अब सूत्रालकार और कल्पना मण्डतिका को समवेत पढने से स्पष्ट है कि इसके लेखक ने न केवल कनिष्क का एक पुराने राजा के रूप मे उल्लेख किया है वरन् इसमे रुद्रदामा के सागल (=स्यालकोट) पर आक्रमण का उल्लेख भी है (जर्नल ऑव एन्शयेण्ट इण्डियन हिस्टरी, १, कलकत्ता १९६७–८ पृ० ११५–६)। रुद्रदामा का यह आक्रमण १५० ई० के दो चार वर्ष पहिले या बाद में हुआ होगा। हो सकता है जिस समय उसने यौधेयो को परास्त किया था उसी समय वह बहावलपुर के मार्ग से सागल तक गया हो। लेकिन स्यालकोट प्रदेश पर कनिष्क का अधिकार निश्चय ही था। उसके अभिलेख मथुरा और सुई-विहार मे मिले हैं और पुरुषपुर (पेशावर) नगर उसकी राजधानी था इसलिए इनके मध्य स्थित स्यालकोट उसके अधिकार मे अवश्य रहा होगा। अत रुद्रदामा का इस प्रदेश पर आक्रमण कनिष्क और उसके निकट उत्तराधिकारियो के उपरान्त ही रखा जा सकता है। इससे कनिष्क को ७८ ई० मे रखने वाले मत को बल मिलता है।

लन्दन-सम्मेलन के उपरान्त कुषाण इतिहास का मौद्रिक दृष्टि से अध्ययन भास्कर चट्टोपाध्याय ने किया (दि एज ऑव दि कुषाणज कलकत्ता, १९६७)। वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कनिष्क ने ७८ ई० मे शासन करना प्रारम्भ किया था।

बैशम द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के अन्य लेख बहुत चर्चा के योग्य नही हैं। कौसाम्बी ने अपने लेख मे यह मानकर कि कनिष्क के लिए १४४ ई० का सकेत केवल मौद्रिक साक्ष्य से ही मिलता है यह सुझाया गया है कि प्रथम कनिष्क ने, जो सम्वत्-प्रवर्त्तक था, मात्र सोटर मेगस उपाधि वाले सिक्के जारी किए और द्वितीय कनिष्क ने कनिष्क के नाम वाले। परन्तु उनके मत को न किसी ने गम्भीरतापूर्वक लिया है

और न इसे गम्भीरतापूर्वक लिया जा सकता है। अहिनपोश स्तूप की निधि मे कनिष्क के सिक्के घिसे-पिटे रूप मे मिले हैं और हुविष्क का सिक्का एकदम नया है। इस प्रकार अहिनपोश स्तूप के जिस साक्ष्य को सुलझाने के लिए उन्होने यह मत प्रतिपादित किया है, स्वय वही साक्ष्य उनके मत के विरुद्ध है । दूसरे विम के सिक्को के साथ कनिष्क और हुविष्क के सिक्के अनेक स्थलो से मिले हैं (दे०, पीछे), सोटर मेगस के सिक्के उनके साथ बहुत कम, जबकि कोसाम्बी के अनुसार सोटर मेगस (=प्रथम कनिष्क) ने विम और हुविष्क के बीच कम से कम २६ वर्ष शासन किया। वेली, बुस्सगलि तथा हुम्बाख के लेखो का कनिष्क की तिथि की समस्या से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। सम्मेलन मे हुए विचार विमर्श का आढ्या और वाग्ले द्वारा तैयार किया गया सक्षेप अत्यन्त असतोषप्रद और भ्रमोत्पादक है। पुस्तक में कहीं-कही मुद्रण की अशुद्धियाँ हैं, जैसे भूमिका पृ० ६ पर पहिले पैराग्राफ के अन्त मे दी गई तिथि २४८ होनी चाहिए थी न कि २४४ और पृ० ११८ पर २५वीं पक्ति मे दी गई सख्या २८८ होनी चाहिए थी न कि १८८। लेकिन इन गौण दोषो को छोड दें तो पुस्तक बहुत अच्छी छपी कही जाएगी, यद्यपि इसका मूल्य भारतीय पाठको को अत्यधिक प्रतीत होगा।

[जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर]

# पारदों का इतिहास*

लल्लन जी गोपाल

प्राचीन भारतीय इतिहास मे अनेक विदेशी जातियो के नाम आते हैं। इन्होने भारत मे प्रवेश करके राजनीतिक इतिहास को ही नही प्रभावित किया, सास्कृतिक जीवन को भी अपना अल्पाधिक योगदान दिया है। इन जातियो मे शक, यवन, पह्लव और हूण के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतीय साहित्य मे पारद नाम मिला है, किन्तु अभी तक विद्वान पारद को पार्थियन अथवा पह्लव के लिये ही प्रयुक्त मानते थे। प्रस्तुत ग्रथ मे डा० ब्रतीन्द्रनाथ मुखर्जी ने पारद को एक स्वतत्र जाति के रूप मे प्रतिष्ठापित किया है।

पारद के पृथक् जाति होने की सभावना लेखक को सर्व-प्रथम उनके कुछ सिक्को के द्वारा प्राप्त हुई थी। पारद-सम्बन्धी मुद्राशास्त्रीय प्रमाण की ऐसी पहचान और विवेचना लेखक ने ही सर्व-प्रथम की है। यही पारदो के पृथक् अस्तित्व का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रमाण है। यही कारण है कि लेखक ने प्रथम अध्याय मे पारदो के सिक्को का विस्तृत विवेचन किया है।

इन सिक्को को उनके लेखो की लिपि और अन्य तथ्यो के आधार पर तीन वर्गों मे विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग के सिक्को पर खरोष्ठी मे लेख और ग्रीक लेख के चिह्न प्राप्त होते हैं। ये सिक्के पददक के हैं जिसे परत कहा गया है। इस वर्ग के दो ही सिक्के उपलब्ध हैं। ये ताबे के हैं और आकृति मे गोल जैसे हैं। इनमें से एक १५० ग्रेन और दूसरा १५०–६ ग्रेन का है। इनका विस्तार क्रमश ६ और •८५ इच है। इन सिक्को के पूर्व भाग पर दक्षिणाभिमुखी ऊर्ध्वशरीर और पृष्ठभाग पर दक्षिणाभिमुखी अश्व पर स्थित पुरुष अकित है जिसे पखयुक्त उडती हुई निके (Nike) पीछे से फूलो का ताज पहना रही है। पूर्वभाग पर ही खरोष्ठी मे अक्षर चिह्न है। एक पर पूर्वभाग मे खरोष्ठी लेख है पददक परतस । दूसरे पर लेख है रयस⋯पददक परत (स) । पृष्ठभाग पर एक सिक्के पर लेख है TYRO KOSS और दूसरे पर TY .KOSSAN..। इन सिक्को का

---

* दि पारदाज–ए स्टडी इन देअर क्वायनेज एण्ड हिस्ट्री, लेखक—बी०एन०मुखर्जी पिलिग्रिम पब्लिशर, कलकत्ता से १९७२ मे प्रकाशित।
पृ० १४९, मूल्य—२५ रुपया।

पृष्ठभाग कुषाण शासक मिश्रग्रोस (Miaos) के सिक्को के पृष्ठभाग का अनुकरण है जिस पर ग्रीक लेख का पूरा रूप TYRANNOYNTOS MIAOY (अथवा HERAOY) SANAB KOSSANOY मिलता है। इन सिक्को के पूर्वभाग का ऊर्ध्वशरीर इण्डोग्रीक शासक हर्मेयुस (Hermaeus) के सिक्को से प्रभावित प्रतीत होता है जिन पर उसके नाम के साथ कुषाण शासक कुजुल का नाम मिलता है।

इन प्रभावो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये सिक्के मिश्रग्रोस और कदाचित हर्मेयुस और कुजुल के शासनकाल मे अथवा कुछ समय बाद ढाले गये थे। हर्मेयुस को द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिमदशको से पहले नही रखा जा सकता। कुजुल के शासन का अन्त प्रथम शताब्दी ईसवी से पूर्व नही हुआ था। मिश्रग्रोस के सिक्को पर प्राप्त कुछ चित्र प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व और उसके कुछ बाद के सीथी-पार्थियन सिक्को पर मिलते हैं। विवेच्य सिक्को पर खरोष्ठी अक्षरो के भद्दे रूप पश्चिमोत्तर भारत के प्रथम शताब्दी ईसवी के सीथी-पार्थियन सिक्को पर के अक्षरो से तुलनीय हैं। इन तर्कों पर प्रथम वर्ग के सिक्के प्रथम शताब्दी ईसवी के माने जा सकते हैं।

इन सिक्को का प्रचलन हिन्दुकुश के दक्षिण मे पश्चिमोत्तर भारत अथवा उसके सीमावर्ती प्रदेश मे था। उल्लेखनीय है कि विवेच्य सिक्को पर खरोष्ठी और ग्रीक अक्षरो का प्रयोग और इण्डो-ग्रीक टेट्राड्राक्म की तोल का अनुसरण दोनो ही इस क्षेत्र के सिक्को की विशेषतायें द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी मे विमकडफिसेज़ के समय तक थी। जिन सिक्को का इस वर्ग के सिक्को पर प्रभाव देखा गया है उनके इस क्षेत्र मे प्रचलन की सभावना भी सिद्ध होती है। हर्मेयुस के सिक्के बडी सख्या मे पैरोपैमिसडे (विशेषत काबुल और उसके समीप), रावलपिण्डी और पेशावर-चरसदा से प्राप्त हुये हैं। मिश्रग्रोस की टकसाल यद्यपि हिन्दुकुश के उत्तर मे रही होगी, उसके सिक्के हिन्दुकुश के दक्षिण और पश्चिमोत्तर भारत मे भी प्राप्त हुये हैं। यह व्यापार के माध्यम से सभव हुआ होगा। इसी प्रकार गोन्डोफारेस प्रथम ने, जिसका राज्य हिन्दुकुश के उत्तर मे नही फैल सका था, जो मिश्रग्रोस के सिक्को से अश्वारोही और निके की मुद्राशैली ग्रहण की, वह भी व्यापार के माध्यम से हिन्दुकुश के दक्षिण मे मिश्रग्रोस के सिक्को के प्रचलन के कारण ही सभव हुआ था।

दूसरे वर्ग के सिक्को पर केवल खरोष्ठी मे लेख मिलता है। ये चादी के हैं। लेखक ने ऐसे बारह सिक्को को देखा है जिनमे से एक टैल्बट (Talbot) के सग्रह मे और शेष लागवर्थ डेम्स (Longworth Dames) के सग्रह मे हैं। लेखक ने दो सिक्को का वर्णन किया है। टैल्वेट के सग्रह का सिक्का २४७ ग्रेन तौल और ४५ इच विस्तार का है। दूसरा सिक्का ३७.६ ग्रेन और ६ इच का है। दोनो सिक्को

के पृष्ठभाग पर स्वस्तिक चिह्न और पूर्वभाग पर लम्बे केश और ताजधारी ऊर्ध्व-शरीर है। किन्तु पूर्वभाग पर कुछ साधारण अन्तर भी दिखलाई पडता है। जहा पहले पर ताज की पट्टी स्पष्ट है दूसरे पर श्मश्रु स्पष्ट है। लेख पृष्ठ भाग पर है। पहले सिक्के के लेख को रैप्सन ने....(स पुठ) नस वगफर्नपु ( त्र ' ) पढा था। लेखक ने इसे वगफर्नपुत्रस परत (अथवा द) (र) जस पुडेनस पढा है। दूसरे सिक्के के लेख को भी लेखक ने सुधार कर बगफ (अथवा फि) (र्न पुत्र)स पुद्र (अथवा ढ्रे) नस ' पढा है। दोनो ही मे पिता का नाम बगफर्न है अतएव लेखक ने पुढन अथवा पुढेन को पुडेन के नाम का ही रूप माना है। पहले सिक्के पर उसे परत कहा गया है।

इन सिक्को पर राजा के सिर का अकन ससान शासक होर्मिज्द प्रथम कुषान्पाह के सिक्को से प्रभावित प्रतीत होता है। होर्मिज्द के ये सिक्के २५६ अथवा २६२ ई० के लगभग ढाले गये थे। अतएव विवेच्य सिक्के २६२ ई० के कुछ वर्ष बाद के होगें। इन्हे पश्चिमोत्तर भारत से खरोष्ठी लिपि के उपयोग के उठ जाने से पूर्व रखना चाहिये जो कदाचित तीसरी, चौथी अथवा पाचवी शताब्दी मे हुआ था। ये सिक्के झेलम जिले से प्राप्त हुये हैं। अतएव इस परत नरेश का इस क्षेत्र मे तीसरी अथवा चौथी शताब्दी मे राज्य माना जा सकता है।

तीसरे वर्ग के सिक्को पर लेख ब्राह्मी अक्षरो मे है। ये चादी के हैं। इनमे भी पृष्ठभाग पर स्वस्तिक का चिह्न और पूर्व भाग पर श्मश्रु लम्बे केश और मुकुटधारी दक्षिणाभिमुखी ऊर्ध्वशरीर और किनारे पर बिन्दुओ का घेरा है। लेख पृष्ठभाग पर है। इनमे से एक सिक्के पर जो शार्ट (Shortt) के सग्रह मे है, लेख है—यसमा (अथवा मि) रपुत्रस परतराज ह्वर (अथवा व या ह) मिरस। ब्लीजबी (Bleazeby) के सग्रह के सिक्के पर लेख है '(पुतस्) स परतरजस पलसर (स)। रॉलिन्स (Rawlins) के सग्रह के सिक्के के लेख को वी० ए० स्मिथ ने पर (म) राज अजुनस हिलवोर-पुतस और रैप्सन ने पर (म) राज रस' रपुतस पढा था किन्तु लेखक ने हिलमा (अथवा जा) रपुतस परतरा (ज) अजुन (स) पढा है। चौथे सिक्के को पृष्ठ भाग और पूर्व भाग की शैली और ब्राह्मी लेख के उपयोग के आधार पर इसी वर्ग से सम्बद्ध किया गया है, किन्तु लेख का पाठ सदिग्ध है।

इनमे से अजुन वाले सिक्के का उल्लेख स्मिथ ने सौराष्ट्र के (पश्चिमी क्षत्रपो के) सिक्को के अन्तर्गत किया था, किन्तु इसका कोई आधार नही है। इस वर्ग के सिक्को को उनके पूर्व और पृष्ठ भाग की विधियो और परतनाम के आधार पर पश्चिमोत्तर भारत के परत सिक्को से सम्बन्धित किया जा सकता है। ये समवतः झेलम जिले के थे जहा से अजुन और पलसर के सिक्के और ऊपर वर्णित चौथा सिक्का उपलब्ध हुआ है।

इन सिक्को पर खरोष्ठी अक्षरो के अभाव से यह सूचित होता है कि ये उस काल के हैं जब झेलम के क्षेत्र से खरोष्ठी के प्रयोग का चलन उठ गया था। अतएव

ये द्वितीय वर्ग के सिक्को के वाद के काल के है और इन्हे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा उसके बाद रखा जा सकता है। इन सिक्को के ब्राह्मी अक्षर तीसरी-चौथी शताब्दी के पश्चिमी क्षत्रप सिक्को के अक्षरो से तुलनीय हैं। अजुन के सिक्के के अ और न अक्षरो का रूप गुप्तकालीन कुछ लेखो के अक्षरो से मिलता-जुलता है। अतएव इन सिक्को को चौथी शताब्दी अथवा गुप्तकाल के वाद नही रखना चाहिये।

परत सिक्को के वर्गीकरण के पश्चात् उनसे सम्वन्धित कुछ सामान्य बातो का विवेचन है। प्रथम वर्ग के सिक्को पर प्राच्य ग्रीक अक्षरो के चिह्न मिथ्रग्रोस के सिक्को के लेख के अनुकरण हैं। परत सिक्को पर खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियो मे लेख प्राकृत भाषा के हैं। इन लेखो मे आये कुछ व्यक्तिगत नाम अभारतीय हैं। बगफर्न और ह्वरमिर ईरानी उत्पत्ति के हैं किन्तु अजुन (अर्जुन) पूर्णत भारतीय है।

सभी सिक्को पर परत नाम आता है। अन्यत्र इसी का दूसरा रूप परत है। परत नाम के कारण ही सभी सिक्को को एक ही श्रेणी मे रखा जा सकता है। यह सभवत किसी कबीले अथवा कुल का नाम था।

प्रथम वर्ग के पूर्व भाग की आकृति जो मिथ्रग्रोस के सिक्को से अनुकरण की गई है, की मूल उत्पत्ति आर्समिड (Arsacid) वश की किसी टकसाल मे थी। पृष्ठभाग पर का ऊर्ध्वशरीर हर्मेयुस और कुजुल के सयुक्त नामो वाले सिक्को के अनुकरण पर है। द्वितीय और तृतीय वर्ग के पूर्वभाग का ऊर्ध्वशरीर कई इण्डोपार्थियन और आर्सासिड सिक्को से प्रभावित है, केवल एक सिक्के के अपवाद को छोडकर जो होर्मिज्द प्रथम कुषान्शाह के सिक्को से प्रभावित है। इन दोनो वर्गों के पृष्ठभाग पर स्वस्तिक चिह्न हैं जो प्राचीन भारत की अनेक वस्तुओ पर उपलब्ध होता है। हैदराबाद से प्राप्त कुछ सिक्को पर परत सिक्को की भाति ही यही अकेला चिन्ह है।

तौल की दृष्टि से ये सिक्के उन इण्डोग्रीक और सीथो-पार्थियन सिक्को से तुलनीय हैं जो हिन्दुकुश के दक्षिण मे स्थित पश्चिमोत्तर भारत और उसके सीमावर्ती प्रदेश मे प्रचलित थे। इस काल के सिक्को की तौल प्राय ३३-३४ और ३६ ग्रेन के बीच होती है और इस प्रकार चादी के इण्डो-ग्रीक सिक्को की तौल ३५ से ४० ग्रेन से सम्बन्धित है। (ऐट्टिक ड्राक्म की तौल ६६, ६७ २ अथवा ६७ ५ ग्रेन के इण्डो-ग्रीक सिक्के भारत मे नही उपलब्ध हुए हैं)। अनेक सिक्के इसकी चौगुनी तौल (४०×४) १६० ग्रेन के प्रतीत होते हैं। इन्हे टेट्राड्राका कहा गया है। उपयोग के कारण तौल की हानि की सभावना के आधार पर इनकी तौल १६० ग्रेन से भी अधिक मानी जा सकती है। यह हाखमनी (Achaemenid) साम्राज्य के चादी के स्टेटर (Stater) सिक्को की तौल १७२ ९० ग्रेन से तुलनीय है। सभवत इण्डो-ग्रीक शासको ने उनके आगमन से पूर्व पश्चिमोत्तर भारत और उसके सीमावर्ती क्षेत्रो मे प्रचलित स्टेटर की तौल को अपनाया था और उसके एक चौथाई को ड्राक्म कहा

अथवा उन्होंने अपने टेट्राड्राक्म को पारस के स्टेटर के तुलनीय बना कर उसे स्टेटर नाम दिया किन्तु नये ड्राक्म का नाम ड्राक्म ही रखा। इन दोनो सभावनाओ मे से किसी एक के आधार पर ही हम अश्पवर्मन के काल मे तक्षशिला के तीन अभिलेखो मे स (तेर)=स्टेटर, द्र (क्म)=ड्राक्म और ओ (बोल) सिक्को का एक साथ उल्लेख आना समझ सकते हैं।

इस प्रकार इण्डो-ग्रीक राजाओ ने पश्चिमोत्तर भारत मे ग्रीक और फारस की मिश्रित तौल माप अपनाई थी। ऐसा कदाचित् प्रचलित माप को ही आधार बनाने के साथ ही साथ भारत, जहा चादी सोने की तुलना मे महगी है, और बैक्ट्रिया के चादी के सिक्को के वास्तविक मूल्य मे सामजस्य स्थापित करने के लिये किया गया था। डेमेट्रियस प्रथम, यूक्रेटिडेस प्रथम और हेलिओक्लेस ने सर्व प्रथम नये तौल माप को अपनाया। हिन्दुकुश के दक्षिण मे कई इण्डो-ग्रीक राजाओ ने इसे अपनाया किन्तु उसके उत्तर मे ऐट्रिक माप का प्रचलन बना रहा। नये तौल को इण्डो-सीथियन और इण्डो-पार्थियन राजाओ ने भी स्वीकार किया।

परतो के दो ताम्र सिक्के १५० और १५० ३ ग्रेन के है। इनके विषय मे दो सभावनायें है। प्रथम, एजेज द्वितीय के समय मे चादी के सिक्को मे मिलावट के कारण चादी के सिक्को के नाम ही ताबे के सिक्को के लिये प्रचलित हुए और परतो के ये सिक्के (ताम्र) स्टेटर के नाम से प्रसिद्ध थे। द्वितीय, ये ताबे के सिक्को की किसी पृथक् तौल पर बने थे जो अन्तत इण्डो-ग्रीक अथवा अन्य किसी ताबे के सिक्के पर आधारित थे।

परतो के चादी के सिक्को की तौल ४७, ३७ ६, २८, ४५ ५ ग्रेन आदि हैं। यह ऊपर वर्णित नई तौल से सम्बन्धित है। यद्यपि परतो के सिक्को का समय सीथो-पार्थियन युग की समाप्ति के बहुत बाद है फिर भी पश्चिमोत्तर भारत मे इस तौल के बने रहने की सभावना है।

परतो के ताबे के सिक्को का सापेक्षिक घनत्व ८ ०० और ८ १८ है। उनके दो चाँदी के सिक्को का सापेक्षिक घनत्व ८ ४२ और ६.६० है। इनके अन्य चाँदी के सिक्को में भी चाँदी का अनुपात कम है।

परतो के कुछ चांदी के सिक्के किनारे पर एक ओर कुछ नतोदर और दूसरी ओर उन्नतोदर हैं, और दोनो ही ओर कोई चिह्न अकित नही है। इसका कारण यह था कि ये सिक्के ढाले नही गये ठप्पे से बनाये गये थे। और क्योकि ठप्पे जल्दी मे लगाये गये, इसलिये उनका कुछ अश सिक्को के बाहर पडा।

अन्यत्र इस प्रकार के सिक्को के बनाने की विधि के आधार पर लेखक ने इन सिक्को के बनाने की सभावित विधि का उल्लेख किया है। सर्वप्रथम चिन्ह रहित सादे सिक्के बनाये जाते थे। यह दो प्रकार से होता था—वाछित विस्तार वाले गोल साचो मे पिघली हुई धातु और मिश्रण को ढालकर अथवा निश्चित मोटाई के पत्तर

बनाकर उनसे गोल टुकडो को काटकर। पूर्वभाग और पृष्ठभाग पर के चिन्हो के उल्टे रूप को स्टील अथवा काँसे के साँचो मे खोद लिया जाता था। इनमे से एक को निहाई में ही जड दिया जाता था और दूसरे को ठप्पे लगाने के लिये किसी छेनी आदि के सिरे पर जोड दिया जाता था। चिन्हरहित सादे सिक्के को ठप्पे लगाने से पूर्व थोडा सा गरम करके निहाई पर जडे साँचे पर रख दिया जाता था और ऊपर से छेनी में लगे साँचे को रखा जाता था। कुछ परत सिक्को मे पृष्ठभाग के चिन्ह सिक्के के भीतर नही आ सके हैं जिससे प्रतीत होता है कि दोनो साचो को उपयुक्त स्थान पर रखने के लिये उन्हें किसी विधि से जोडने या गाधने की व्यवस्था नही की जाती थी। ऊपर के साँचे की छेनी को हथोडे से पीटा जाता था जिससे सिक्के के दोनो भागो पर वाछित चिन्ह उभर आते थे। हथौडे की चोट के कारण सिक्को के फैल जाने की सभावना होती थी। यही कारण है कि कुछ परत सिक्के पूर्णत वृत्ताकार नही हैं। ताँबे के सिक्को पर पृष्ठभाग और पूर्वभाग मे चिन्हो की ऊपर और नीचे की स्थिति का तारतम्य (alignment) सही नही है। चाँदी के सिक्को के पृष्ठ भाग पर स्वस्तिक चिन्ह होने के कारण उसके निचले भाग का निर्णय करना कठिन है, किन्तु पृष्ठभाग पर लेख के आरम्भ होने के स्थान को देखकर यह कहा जा सकता है कि इनके पूर्वभाग और पृष्ठभाग का तारतम्य ठीक नही है।

द्वितीय अध्याय मे लेखक ने परतो के सिक्को का सूचीपत्र ( Catalogue ) प्रस्तुत किया है जिसमे पूर्व और पृष्ठभाग पर चिन्ह और लेख के साथ ही उनकी धातु, तौल और विस्तार का भी विवरण दिया गया है।

इस मुद्राशास्त्रीय विवेचन से यह स्पष्ट तो हो जाता है कि परत या परद नाम की जाति अथवा कुल ने पश्चिमोत्तर भारत और सीमावर्ती प्रदेश मे पहली शताब्दी मे और झेलम जिले मे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध और उसके बाद मे सिक्के चलाये। इनका ही प्राचीन ग्रन्थो मे परत या पारद जाति के नाम से उल्लेख आता है।

तृतीय अध्याय मे लेखक ने अभारतीय और भारतीय प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लेखो के आधार पर परतो का इतिहास प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम उल्लेख हेरोडोटस ने किया है जिससे सातवी शताब्दी ईसा पूर्व मे उनका अस्तित्व सिद्ध होता है। उसका कथन है कि डेइओकेस (Deiokes) ने मेडेस (Medes) को एक राष्ट्र के रूप मे सगठित किया और उन पर अकेले ही राज्य किया। मेडेस मे सम्मिलित छः जातियो मे से दूसरा नाम परैतकेनॉए (Paraitakenoi) था। डेइओकेस का राज्यकाल ७११–६५८ ई० पू० था। उसकी राजधानी अग्बटाना (Agbatana) थी जिसकी पहचान हमदान अथवा तख्त-ए-सुलेमान से की जाती है। हेरोडोटस ने ही मेडिआ का जो वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि मेडिआ मे पश्चिमोत्तर फारस के पर्वत और मैदान के क्षेत्र सम्मिलित थे। यही परैतकेनॉए का प्रदेश स्थित था।

परैतकेनॉए में ग्रॉए(oi) ग्रीक में कर्ताविभक्ति का चिन्ह है। अस्सकान(Assakana) नाम के ग्रीक साहित्य में उपलब्ध रूप अस्सकेनॉए (Assakenoi) के उदाहरण पर परैतकेनॉए का शुद्ध रूप परैतकान रहा होगा जिसमे क और अन प्राचीन ईरानी भाषा के प्रत्यय हैं। इस प्रकार मूल नाम परैत था परैतक उस कबीले के लोगों के लिये, परैतकान परैतको के प्रदेश के लिये और परैतकेनॉए उस प्रदेश के निवासियो के लिये प्रयुक्त होता था।

हेरोडोटस से बहुत बाद के एक स्रोत मे सीस्तान मे परैतकेनॉए और उसके अनुवर्ती दूसरे स्रोत मे बलूचिस्तान मे परतो की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है। परैतकेनॉए के द्वारा पूर्व की ओर प्रसार करने मे सम्बन्धित प्रमाण के सन्दर्भ मे निकटस्थ प्रदेशो में परैत और परत लोगो की उपस्थिति और दोनो ही के विषय मे लम्बे केश रखने की परम्परा को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि परत मूल नाम परैत का ही सक्षिप्त रूप है। पुष्कलावती और मोपला के ग्रीक ग्रन्थो में प्राप्त रूप के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अशुद्ध उच्चारण के कारण ही परत के स्थान पर परैत रूप चला।

स्ट्रैबो ने असीरिया के अतूरिया प्रदेश मे परैतकै (Paraitakai) का उल्लेख किया है। यह शब्द परैतक मे बहुवचन सूचक कर्ताकारक प्रत्यय ऐ (ai) लगाने से बना है। इस उल्लेख के आधार पर असीरी साम्राज्य के अग के रूप मे परैतक के प्रदेश को टिगरिस नदी के ऊपरी भाग के समीप रख सकते हैं। असीरी साम्राज्य का पतन सातवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे हुआ था। अतएव यह सभव है कि कुछ काल के लिये परैतकै असीरी साम्राज्य के अधीन थे। स्ट्रैबो के दूसरे उल्लेख के अनुसार अराक्सेस (Araxes) नदी परैतकै के देश से बहती थी। अराक्सेस ही वर्तमान अरक्स नदी है। इन सब उल्लेखो के आधार पर परैतकै को फारस के सुदूर पश्चिमोत्तर और समीपवर्ती भाग मे रखा जा सकता है। स्ट्रैबो के कुछ अन्य उल्लेखों से प्रतीत होता है कि परैतकेनॉए पूर्वी फारस के मध्यभाग के समीप बसे थे। इन उल्लेखो मे से एक मे परैतकेनॉए को पार्थियन लोगों के अधीन कहा गया है। अतएव कुछ परैतकेनॉए लोग इस क्षेत्र मे आर्ससिड लोगों के समय तक बसे रहे थे। एक उल्लेख के अनुसार परैतकेनॉए मेडिया के पूर्वी अन्त पर फारस की सीमा को छूते हुये स्थित था। दूसरे उल्लेख के अनुसार यह पर्सिस की सीमा मे कैस्पियन गेट्स तक फैला हुआ था। यह स्पष्ट नहीं है कि यहा परैतकेनॉए के प्राचीन देश का अथवा उनके पूर्वोत्तर मे किसी दूसरे आवास का उल्लेख है।

एरियन (Arrian) ने परेटाकै (Paraitakai) का उल्लेख किया है। इन्हें यदि परैतकै ही मान लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि सिकन्दर के समय तक ये पूर्वोत्तर की ओर खिसक आये थे। एरियन के अनुसार सोगदियाना (Sogdiana) मे अपने कार्य को पूरा करके सिकन्दर परेटकै की ओर बढ़ा क्योंकि इनके

सूचना मिली कि कई कबीले के लोग परेइतकै के देश मे सुदृढ अधिकार किये हुये थे। इससे प्रतीत होता है कि सिकन्दर से पूर्व कुछ परैतकै लोग आक्सस ( Oxus ) और जक्सार्टेस (Jaxartes) नदियो के बीच आकर बस गये थे। किन्तु इनकी एक शाखा सिकन्दर के बाद भी पर्सिपोलिस और एग्बटाना के बीच अपने पुराने देश मे बनी रही सिकन्दर से कुछ काल पूर्व इनकी एक शाखा बेबीलोनिया की ओर बढ कर केस्पियन गेट्स तक फैल गई थी।

किन्तु परैतकै का प्रसार यही तक सीमित नही रहा। चरक्स (Charax) के इसीडोर (Isidore) ने २६-२५ और 1 ई० पू० के बीच रचित अपने स्टाथमॉए पार्थिकॉए (Stathmoi Parthikoi) नामक ग्रन्थ मे सकास्ताने (Sakastane) को ही परैतकेने ( Paraitakene ) कहा है। परैतकेने परैतकेन शब्द के कर्ताकारक के एक वचन का रूप है। इस प्रकार 1 ई० पू० तक सीस्तान नाम परैतकेनॉए अथवा परैतकै के नाम पर प्रतिष्ठित हो गया था। स्पष्ट है परैतक लोगो को उस क्षेत्र मे आकर बसे काफी समय बीता होगा।

प्लिनी का कथन है कि पार्थी ( Parthi ) और एरिआनी ( Ariani ) के बीच परएतकेनी (Paraetaceni) लोगो का प्रदेश आगे निकला हुआ है। प्लिनी के एक दूसरे उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन दोनो के बीच परएतकेनी का प्रदेश वर्तमान फारस और अफगानिस्तान के बीच, हेरात के समीप, स्थित रहा होगा। परएतकेनी स्पष्ट ही परैतकेनॉए का रूप है और परैतकेनो मे कर्ताकारक के बहुवचन का सूचक प्रत्यय इ या ऑए ( i=oi ) जोड कर बना है। प्लिनी का उपर्युक्त उल्लेख पर्सिपोलिस और एग्बटाना के बीच से अथवा ट्रासोक्सिआना से उनके सीस्तान पहुँचने के मध्य की अवस्था का सूचक है।

चीनी ग्रन्थो के उल्लेख इस सन्दर्भ मे महत्वपूर्ण है। हाउहान-शू, जो पानयुग द्वारा १२५ ई० के लगभग एकत्रित विवरण पर आधारित है, का कथन है कि उसके काल मे वू-ई-शान-ली ने अपना नाम पऐ-चइह कर लिया था। इसी प्रकार वाई-लूएह, जिसकी रचना २३९ और २६५ ई० के बीच हुई थी, के अनुसार वू-ई को पऐ-चइह भी कहा जाता है। इस प्रकार १२५ ई० के पूर्व ही वू-ई-शान-ली का नाम पऐ-चइह हो गया था जो तीसरी शताब्दी के मध्य तक प्रयुक्त हुआ था। सान-कुओ चिन्ह नामक ग्रथ मे पऐ तओही पऐ-चइह के पाठान्तर के रूप मे प्राप्त होता है। चीनी लिपि मे तओ और चइह अक्षरो मे जो साम्य है उससे लिपिक के द्वारा भूल हो सकती थी। कदाचित पऐ-तओ ही प (रै) त (क) है। इसकी सभावना इस बात से होती है कि वू-ई-शान-ली अथवा पऐ-तओ सीस्तान मे स्थित था जिसका नाम इसीडोर के चरक्स के अनुसार परैतकेने भी था। इस प्रकार सीस्तान के साथ परत के नाम का सम्बन्ध सन-कुओ-चिन्ह के समय तक बना रहा था।

पेरिप्लस तेस एरीथ्रास थलास्सेस (Periplous tes Erythras Thalasses जो अपने अग्रेजी अनुवाद पेरिप्लस ऑव द एरीथ्रेइयन सी के नाम से प्रसिद्ध है )

नामक ग्रन्थ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के अन्त तक परत लोग पूर्व और दक्षिण-पूर्व की ओर आगे वढ गये थे। इस ग्रन्थ मे उल्लेख है कि ओम्मेनिटिक (Ommanitic) प्रदेश के आगे पारोदोन (Parodon) का देश है। मूल्लेर (Muller) ने पारोदोन के स्थान पर पार्सिडोन (Parsidon) पाठ सशोधन किया। अनुवर्ती सपादको और अनूदको ने मूल्लेर का अनुसरण किया है और शॉफ (Schoff) ने अपने अनुवाद मे पर्सिडे (Persidae) नाम दिया है। किन्तु जब हमे अन्य स्रोतो से पारद नाम का ज्ञान होता है तो मूल पाठ को परिवर्तित करने की आवश्यकता नही है। पेरिप्लस मे सन्निकटस्थ प्रदेश सीथिया की पश्चिमी सीमा का जो विवरण है उसे प्रतीत होता है कि पारोदै के तटीय प्रदेश की पूर्वी सीमा मोन्ज़े (Monze) अन्तरीप के समीप थी। इस ग्रन्थ के अनुसार पारदो के देश से एक नदी वहती थी जिसके मुहाने पर ओरेआ (Oraca) नाम का नगर वसा था और जिसके मध्य से एक अन्तरीप जेड्रोसिआ (Gedrosia) की खाडी तक फैला था। यह नदी वर्तमान पुरली नदी है। इस विवरण के अनुसार पारदो का प्रदेश जेड्रोसिआ की खाडी के तटपर था। अतएव वलूचिस्तान के लास वेला जिले का समुद्रतटीय भाग अवश्य ही उसके अन्तर्गत रहा होगा।

पेरिप्लस के इस प्रमाण का समर्थन महाभारत से प्राप्त होता है जिसका वर्तमान रूप ईसा पूर्व चौथी शताब्नी से चौथी शताब्दी ईसवी के वीच का है। महाभारत के अनुसार पारद सिन्धु नदी के पश्चिम मे और समुद्र तट के निकट वसे थे (समुद्रनिकटे जाता परिसिन्धुनिवासिन। तेवैराम पारदाश्च वगाश्च किटवै सह।।)। टाल्मी (Ptolemy) ने भी, जिसने अपने भूगोल की रचना दूसरी शताब्दी के दूसरे अथवा तीसरे चरण में की थी, परदेने (Paradene) नामक प्रदेश को जेड्रोसिआ मे स्थित वतलाया है। पारदेने पारदान के कर्ताकारक एक वचन का स्त्रीलिंग रूप है। टाल्मी के द्वारा सुराष्ट्र और पाताल के लिए सिराष्ट्रेने (Syrastrene) और पाटालेने (Patalene) रूप के प्रयोग को देखते हुये परदेने को भी परद अथवा पारद पर आधारित माना जा सकता है। टाल्मी के विवरण के अनुसार जेड्रोसिआ मे मुख्यत वलूचिस्तान का समुद्र से ऊपर का भाग सम्मिलित था और यह प्राचीन एराकोसिआ (Arachosia) और ड्रागिआने (Drangiane) के नीचे स्थित था। इस प्रकार जहा पेरिप्लस और महाभारत के अनुसार पारदो का प्रदेश वलूचिस्तान के समुद्रतटीय क्षेत्र मे था, टाल्मी के अनुसार वह वलूचिस्तान के भीतरी क्षेत्र में था। कदाचित् पेरप्लिस और टाल्मी के वीच के काल मे समुद्रतटीय क्षेत्र से पारदो का अधिकार उठ गया था।

ससानी सम्राट् पापूर प्रथम के नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख मे उसके साम्राज्य के अन्तर्गत तोगरन (जिसे तूरेने, तोगरस्तन और तोरस्तन भी कहा गया है) का उल्लेख है। इसे समुद्र तट तक फैला वतलाया गया है। हुदूद-अल-आलम से प्रतीत होता है कि टूरान (अथवा तूरेने) मे दक्षिणी वलूचिस्तान के झलवान और लास वेला जिले सम्मिलित थे। यह प्राय स्वीकार किया जाता है कि तोगर और तोखार की एक ही

उत्पत्ति है। तोखारी अथवा तुखार को यूएह्-चिह् से सम्बन्धित किया जाता है। इन सब प्रमाणो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख (२६२ ई०) से पूर्व लास वेला जिला पारद राज्य से निकल कर तोखारी-यूएह्-चिह् लोगो के अधिकार मे आ गया था और इस प्रकार तोगरन राज्य मे सम्मिलित था। इस क्षेत्र मे इन लोगो का प्रवेश कदाचित् और पहले ही हो गया था, यह अल-टवरी की रचना से ज्ञात होता है। अल-टवरो ने तूरान (अथवा तोगरन) की २२४ ई० के लगभग उपस्थिति का उल्लेख किया है।

किन्तु इन प्रमाणो से यह निष्कर्ष नही निकलता कि बलूचिस्तान से पारद प्रदेश का नाम ही मिट गया था। नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख के पार्थियन सस्करण मे तोगरन के साथ ही परतन का नाम भी षापूर प्रथम के साम्राज्य के प्रान्तो की सूची मे दिया गया है। परतन को मकोरन (मकरान, दक्षिणी बलूचिस्तान) और हन्दस्तन (हिन्दुस्तान, सिन्ध का निचला भाग) के बीच रखा गया है। अतएव यह पूर्वी बलूचिस्तान मे रहा होगा। परतन (परत+आन), जिसे अभिलेख के ग्रीक सस्करण मे (पर)देने कहा गया है, कदाचित् परत अथवा परद लोगो के प्रदेश का ही सूचक है। नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख से स्पष्ट है कि २६२ ई० तक परतान षापूर प्रथम के राज्य का अग था।

पैकुलि के अभिलेख मे उन राजाओ की सूची है जो नार्सेह (२६३-३०२ ई०) के सिंहासनारोहण पर उसे बधाई देने आये थे। इनमे कुषान्षाह् और सीज़र के साथ ही पारदान्षाह् का भी नाम है। सभवत पारदो का राज्य वही था जो नक्श-ए-रुस्तम अभिलेख मे परतान के नाम से उल्लिखित है। रोमन सम्राट् के साथ उल्लेख आने के कारण हम पारदो के षाह् को भी स्वतत्र शासक मान सकते हैं, किन्तु यह स्पष्ट नही है कि वह स्वय पारद था अथवा पारदो के देश का शासक था। यद्यपि इस उल्लेख से पारदान्षाह् का महत्व स्पष्ट है, इसका यह भी अर्थ किया जा सकता है कि पारदो का राज्य नक्श-ए-रुस्तम मे उल्लिखित परतन प्रान्त से भिन्न था। इसी प्रकार ससानी प्रान्तपालो की कुषान्षाह्, सकान्षाह् आदि उपाधियो को देखते हुये यह भी सभावना होती है कि पारदान्षाह् भी अधीन शासक ही था।

भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर परतो के महत्व का ज्ञान कई प्रमाण से होता है। मुद्राशास्त्रीय प्रमाण से ज्ञात होता है कि हिन्दुकुश के दक्षिण-पूर्व मे पहली शताब्दी ईसवी मे परत जाति के पददक ने शासन किया था। यह कदाचित् कुषाणो के अधिकार के सुदृढ होने मे पूर्व था।

टाल्मी ने पश्चिमोत्तर भारत मे पारदो की एक बसती परदवग्र को सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर स्थित बतलाया है। यह पेशावर जिले के आसग्राम के दक्षिण मे था। वग्र की उत्पत्ति सस्कृति पद्र शब्द से है जिसका अर्थ है ग्राम। इस प्रकार दूसरी शताब्दी ईसवी के दूसरे अथवा तीसरे चरण तक सिन्धु के पश्चिमी तट

पर पारदो का एक गाव बस गया था। किन्तु पददक के राज्य के साथ इस गाव का क्या सम्बन्ध था यह ज्ञात नही है।

मुद्राशास्त्रीय प्रमाण से झेलम जिले मे तीसरी-चौथी शताब्दी मे परतो के राज्य के अस्तित्व का ज्ञान होता है। यहाँ के ज्ञात परत राजा है—बगफर्न का पुत्र पुडेन (अथवा पुढन या पुढेन), यसमार का पुत्र ह्वमिर, पलसर (पिता का नाम अज्ञात) और हिलमार का पुत्र अजुन। इनमे पुडेन सबसे पहले हुआ था। पुडेन ने अपने सिक्को पर ऊर्ध्वशरीर को होर्मिज्द प्रथम कुषान्षाह् के सिक्को के अनुकरण पर बनाया था। अतएव पुडेन ने अवश्य ही २६२ ई० के बाद भी राज्य किया होगा। परतो को कुषाण-ससानी सिक्को का परिचय पापूर प्रथम की पेशावर तक की विजय के बाद ही सभव हुआ होगा। परतो का यह राज्य पश्चिमोत्तर भारत मे कुषाणो के पतन के बाद स्थापित हुआ था, किन्तु कुषाणो के पतन मे उनका योगदान ज्ञात नही है।

भारतीय ग्रन्थो मे भी पारदो के अनेक उल्लेख मिलते हैं। महाभारत के सभापर्व मे पारदो का नाम औदुम्बर, वाह्लीक, काश्मीर, शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, राजन्य, मद्र, केकय, पह्लव, शक आदि के साथ आया है। रामायण मे काम्बोज, यवन, शक, पौड, पारद, बह्लीक आदि का उल्लेख है। महामयूरी मे, जिसका कुमार-जीव ने ४०२ और ४१२ ई० के बीच चीनी मे अनुवाद किया, पराशर को पारतो के देश का यक्ष कहा गया है। बृहत्सहिता के १४ वे अध्याय मे पारतो को पश्चिम मे रखा गया है और १६वें अध्याय मे सूर्य, मगल और बृहस्पति को पारतो का स्वामी कहा गया है। कई पुराणो मे पारदो के देश को शतद्रुज, कुरिमन्द, हारहूणक आदि के साथ उदीच्य देशो की तालिका मे रखा गया है। किन्तु इन प्रमाणो से पारद देश की सीमायें नही निर्धारित हो पाती।

कुछ प्रमाणो से पारदो के भारतीकरण का ज्ञान होता है। मनुस्मृति के अनु-सार पारद, शक, यवन, काम्बोज, पह्लव आदि क्षत्रिय थे जो दैनिक कृत्यो को न करने और वेदो और ब्राह्मणो के आदेशो का उल्लघन करने के कारण वृषल हो गये थे। हरिवश और कुछ पुराणो के अनुसार काम्बोज, यवन, शक, पारद और पह्लव क्षत्रिय थे जिनके लिये धर्म निषिद्ध था। इस प्रकार मनुस्मृति (२०० ई०) अथवा हरिवश (चौथी शताब्दी) के रचनाकाल तक पारद भारतीय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मे सम्मिलित कर लिये गये थे। उन्हे क्षत्रिय उत्पत्ति दी गई, किन्तु बाद मे उन्हे वृषल के रूप मे गिरा दिया गया।

पुराणो मे पारदो के च्युत होने की कथा कुछ अन्तर के साथ मिलती है। हरिवश और वायु, ब्रह्माण्ड, ब्रह्म और शिव पुराणो मे कथा लघु और बृहद् दोनो रूपो मे मिलती है, किन्तु विष्णु, भागवत् और बृहन्नारदीय पुराणो मे एक ही कथा मिलती है। कथा है कि हैहय और तालजघ लोगो ने शक, यवन, काम्बोज, पारद

और पह्लव लोगो से मिलकर इक्ष्वाकुवशीय राजा बाहु को उसके राज्य से निकाल दिया। बाहु की मृत्यु बन मे हुई। उसकी पत्नी ने और्व ऋषि के आश्रम मे सगर नामक पुत्र को जन्म दिया जिसका पालन ऋषि ने किया। और्व द्वारा प्रदत्त अगन्यस्त्र की सहायता से सगर ने हैहय और तालजघो का नाश किया। शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लव ने सगर के गुरु वशिष्ट के यहा शरण ली। वशिष्ठ के कहने पर सगर ने इनका अन्त करने की अपनी प्रतिज्ञा के स्थान पर इनके धर्म का अन्त किया और इनको अपना वेश परिवर्तित करने पर विवश किया। शको को अपना आधा और यवनो और काम्बोजो को पूरा सिर मुण्डित कराना पडा, पारदो को मुक्त केश और पह्लवो को लम्बी दाढा रखनी पडी। इन सभी के लिये धर्माचरण निषिद्ध कर दिया गया।

इस पौराणिक आख्यान की ऐतिहासिकता स्वीकार करना कठिन है। कदाचित् महाभारत मे सगर के द्वारा हैहय एव तालजघो के पराजय की परपरा मे पारद आदि के भाग लेने की कथा जोड दी गई है। यदि हम सगर की ऐतिहासिकता स्वीकार कर भी लें तो पारद आदि को किसी भी प्रकार से उसका समकालीन नही माना जा सकता। किन्तु इस कहानी से यह स्पष्ट है कि इसकी रचना के समय तक शक, पारद, आदि को भारतीय समाज मे आत्मसात कर लिया गया था। इनमे से कुछ लोग सैनिक का कार्य करते थे। अतएव इन्हे क्षत्रिय का स्थान दिया गया, किन्तु मूलत विदेशी होने के कारण इन्हे च्युत माना गया और तदर्थ सगर के आख्यान से इन्हे सयोजित कर दिया गया।

मुद्राशास्त्रीय प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि तीसरी, चौथी एव पाचवी शती तक पारदो का पृथक् जाति के रूप मे अस्तित्व बना रहा था। उपर्निर्दिष्ट पुराणो की रचना निश्चय ही पाचवी सदी के पश्चात् हुई थी, किन्तु इनमे उपलब्ध विदेशी जातियो के नाम की सूची प्राचीन परम्परा पर आधारित है। इसी प्रकार ११ वी सदी मे अल्बीरुनी ने अपने तहकीक-ए-हिन्द और यादवप्रकाश ने अपनी वैजयन्ती मे पारद जाति का उल्लेख किया है किन्तु अल्-बीरूनी का आधार बृहत्-सहिता और यादवप्रकाश का आधार पौराणिक परम्परा है। झेलम जिले मे परत राज्य के समाप्त होने के बाद पारदो की राजनीतिक सत्ता का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, केवल छठी सदी मे बृहत्सहिता के कई अध्यायो मे उनका उल्लेख आता है। क्षीरस्वामी ने ११वी शताब्दी मे नामलिगानुशासन पर अपनी टीका मे पारद शब्द की जो काल्पनिक उत्पत्ति दी है (पिपर्तिपारद पार तनोति वा) उससे सिद्ध होता है कि उस समय तक पारद (पारा) की उत्पत्ति और पारद जाति की कोई भी स्मृति शेष नही बची थी।

विभिन्न युगो और विभिन्न प्रदेशो में पारदो के सामाजिक एव आर्थिक जीवन का पूरा विवरण नही मिलता फिर भी उनसे सम्बन्धित विभिन्न कालो की झाकी

प्राप्त होती है जिससे उनकी सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि का कुछ आभास होता है।

पश्चिमोत्तर फारस में मीडिया के एक कबीले के रूप में पर्रेतकेनाए लोग मीडिया के रीति-रिवाजों को ही अपनाये होंगे। स्ट्रैबो ने पर्रेतकं लोगों को अमीरिया में स्थित कहा है। अतएव अमीरिया के समाज और शासन के विषय में उसका विवरण पर्रेतकं लोगों के विषय में प्रयुक्त हो सकता है। स्ट्रैबो के अनुसार ये पैर तक लम्बा पट्टए का कुर्ता, एक सफेद लबादा और एक ऊनी ऊपरी वस्त्र धारण करते हैं, उनके केश लम्बे और उनके जूते घुटने तक ऊंचे होते हैं। ये मूठदार खञ्जर डाल रखते हैं और तिल के तेल का लेप करते हैं। उनके कबीले के धीर बुद्धिमान व्यक्ति, जो उनके प्रतिनिधि होते हैं, विवाह-योग्य लड़कियों का सबके सम्मुख नीलाम करते हैं। मैथुनोपरान्त स्त्री-पुरुष अलग अलग धूप जलाते हैं और प्रातःकाल स्नान के पश्चात् ही कोई वर्तन छूते हैं। ये रोगी को चौराहे पर लाकर आने-जाने वालों से उपचार पूंछते हैं। ये मृत व्यक्ति के लिये रुदन करते हैं और उसे मोम और शहद से लपेट कर गाड़ देते हैं। कबीलों का शासन सभी सदस्यों द्वारा मनोनीत धीर बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथ में है। राजा (अमीरी) के द्वारा नियुक्त परिषद् के अतिरिक्त तीन परिषदें हैं—सैनिक सेवा से मुक्त व्यक्तियों की, प्रसिद्ध स्त्रियों की और वृद्धों की। अन्तिम परिषद् लड़कियों का विवाह और परदारागमन के मामले में निर्णय करती है। अन्य दो परिषदें क्रमशः चोरी और मार-पीट के मामले का निर्णय करती है। स्ट्रैबो ने स्पष्ट लिखा है कि पर्रेतकेनोंए की कृषि में अधिक रुचि है, किन्तु कभी-कभी ये लूट-पाट भी करते हैं। यह विवरण पश्चिमी फारस के मध्य भाग में बसे पर्रेतकेनाए लोगों के विषय में लागू होता है। ये लुटेरे थे और पर्वतों की विषम भूमि का लाभ उठाते थे। पर्रेतकेनॉए, जो मसगात इस प्रदेश के पूर्वोत्तर में स्थित थे, को भी स्ट्रैबो ने पर्वतवासी और लुटेरे कहा है।

पौराणिक आख्यान के अनुसार सगर ने पारदों को मुक्तकेश रहने के लिये बाध्य किया था। यद्यपि इस आख्यान की ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं की जा सकती, इसके रचयिता को पारदों के केश विन्यास का सही ज्ञान था। कई पारद सिक्कों पर भी राजाओं के ऊर्ध्वशरीर की आकृति के लम्बे केश उनके कन्धों तक लटकते हुये दिखलाये गये। इन सिक्कों पर राजाओं को मुकुट धारण किये हुए और झूलता हुआ पारदर्शी वस्त्र पहने हुये अंकित किया गया है जो कदाचित पारद राजाओं और विशिष्ट व्यक्तियों की विशेषता थी।

महाभारत के द्रोणपर्व के अनुसार पारद लोग भीषण नेत्र वाले और यमदूतों के सदृश आकृति वाले थे। शस्त्र-प्रयोग में कुशल और असुरों की मायावी शक्ति से युक्त इन पारद सैनिकों द्वारा महाभारत में भाग लेने का उल्लेख है। यद्यपि यह तथ्य ऐतिहासिक नहीं हो सकता, इससे प्रतीत होता है कि इसके लेखक को पारदों के

सामरिक गुणो का परिचय था। उन्होने सिकन्दर के आक्रमण का प्रतिरोध करने का साहस किया था। इसी से उनके शौर्य का आभास होता है।

झेलम जिले से प्राप्त सिक्को पर उपलब्ध लेख परतराज से सूचित होता है कि इस परत देश मे नृपतन्त्रात्मक शासन था। किन्तु राजाओ के पिता के नाम मे राजपदसूचक उपाधि के अभाव के कारण यह स्पष्ट नही है कि पद वशगत था अथवा नहीं।

महाभारत के सभापर्व मे सिन्धु के पश्चिम और समुद्र तट पर रहने वाले पारदो को भी देवमातृक और नदीमातृक (वर्षा और नदी के जल से ही खेती करने वाले) कहा गया है। वे भी युधिष्ठिर के लिए बकरी, गाय, गदहा, ऊँट, शाक, शहद, कम्बल और विभिन्न प्रकार के रत्न आदि भेंट मे लाये थे। सभापर्व मे ही उल्लेख है कि शैलोदा नदी (खोतान अथवा पश्चिमी तिब्बत मे) के किनारे रहने वाले पारदों ने भी युधिष्ठिर को द्रोण के माप से सोने के ढेर भेंट किये जो पिपीलिकाओ द्वारा भूमि से निकाले जाने के कारण उन्ही के नाम से जाने जाते थे। (लेखक के अनुसार सोना खोदने वालो को उनके कार्य के स्वरूप के कारण पिपीलिक कहा गया है) यद्यपि यह स्वीकार नही किया जा सकता कि पारदो ने वास्तव मे युधिष्ठिर को भेंट दी थी, यह कहा जा सकता है कि उल्लेख के रचयिताओं को विभिन्न पारद प्रदेशो की आर्थिक सम्पत्ति का ज्ञान था।

पेरिप्लस से ज्ञात होता है कि बलूचिस्तान मे लास बेला जिले के समुद्र-तटीय क्षेत्र मे स्थित पारद प्रदेश मे गुग्गुल अत्यधिक मात्रा मे उपलब्ध होता था। लेखक का सुझाव है कि जटामासी, जिसकी रोमन साम्राज्य मे माँग थी, पारदो के इसी प्रदेश की उपज थी।

वाई-लूएह के अनुसार फाई-चइह लोगो द्वारा निर्मित वस्त्र ता-चिन (रोमन साम्राज्य का एशियाई भाग) मे बिकता था। शवानीज़ (Chavannes) ने फाई-चइह का पऐ-चइह के साथ समीकरण किया है। यही सीस्तान मे स्थित परतो का प्रदेश था। इस प्रकार तीसरी शताब्दी के मध्य से पूर्व सीस्तान के पारत एक विशेष प्रकार का वस्त्र निर्यात करते थे।

पारा का संस्कृत मे पारद नामकरण कदाचित् इस कारण हुआ कि यह पारद लोगो की प्रमुख व्यापार सामग्री थी। चरक संहिता मे, जिसकी रचना का श्रेय कनिष्क के समकालीन चिकित्सक चरक को दिया जाता है, संभवत. रस शब्द पारे के अर्थ मे प्रयुक्त है, किन्तु 'पारद शब्द का प्रयोग नही हुआ है। पारद शब्द का पारे के अर्थ मे प्रयोग नागार्जुन के समय तक होने लगा था, किन्तु नागार्जुन का समय निश्चित नही है। सुश्रुत संहिता मे, जो चरक संहिता के परवर्ती काल की है और नागार्जुन द्वारा परिष्कृत कही जाती है, एक स्थल पर तो निश्चय ही पारद शब्द का पारे के अर्थ में प्रयोग है। अमरकोष मे, जो छठी शताब्दी से पूर्व की रचना है,

पारत शब्द का यह अर्थ प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसवी संवत की प्रारम्भिक शताब्दियों में, जब पारद भारत में उपस्थित थे, पारे के अर्थ में इस शब्द के प्रयोग का प्रचलन हुआ होगा। पारदो के प्रदेश सीस्तान के समीप ही दक्षिण पश्चिमी अफगानिस्तान के गमसिल नामक क्षेत्र में पारा प्राप्त होता है। नासबेला जिला में भी, जहाँ पारदो का एक राज्य था, पीठ हिंगुल का उल्लेख मिलता है। इसमें हिंगुल शब्द का अर्थ सिन्दूर है जो पारद और गन्धक का यौगिक है। अतएव पारदो का पारे से परिचित होना और उसका व्यापार करना स्वाभाविक ही था।

महामायुरी के तिब्बती रूपान्तर में मूल के पारत नाम के स्थान पर द्गुलछु नाम प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ पारा है। इससे सूचित होता है कि तिब्बती रूपान्तरकार को पारद लोगों और पारे के ऐतिहासिक सम्बन्ध का ज्ञान था।

पारद का चिकित्सा में निरंतर लम्बे काल तक उपयोग होने पर लोग पारदो से उत्पत्ति की बात भूलकर अनेक काल्पनिक व्युत्पत्ति गढ़ने लगे जैसा कि क्षीरस्वामी ने ग्यारहवीं शताब्दी में किया।

अन्त में लेखक ने पारदो के इतिहास की ज्ञात बातों को क्रमबद्ध करते हुए कुछ साधारण निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये हैं। पारदों का स्थानान्तरण कभी पूर्ण और कभी आंशिक होता था। जनसंख्या का दबाव और भोजन की कमी भी स्थानान्तरण का एक कारण रहा होगा। व्यापार और लूट की उनकी प्रवृत्ति से पारदो के स्थानान्तरण कार्य को बल मिला होगा। कभी-कभी राजनीतिक कारण भी इसमें सहायक होता था।

नये स्थान पर वे प्रायः अपना प्रशासन स्थापित करते थे। कभी-कभी इनके शासक असीरिया और पार्थिया जैसे बड़े साम्राज्यों के अधीन रहते थे। किन्तु कुछ स्थानों पर, यथा भेलम जिले में, इनके स्वतन्त्र शासक होते थे जो अपने सिक्के भी चलाते थे।

पारदों के स्थानान्तरण का इतिहास ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से चौथी-पाचवीं शताब्दी ईसवी तक चलता है। भारत में इसके बाद वे अपना पृथक् जातीय अस्तित्व खोकर भारतीय समाज में खप जाते हैं। किन्तु इनका नाम परवर्ती काल में आ जाता है। यह संभव है कि कुछ प्रदेशों के साथ पारद नाम का सम्बन्ध कुछ काल बाद तक बना रहा हो। विनयचन्द्र ने काव्य-शिक्षा में ८४ देशों की सूची में कहा है—सप्ततिसहस्राणि गुर्जरो देश पारतश्च। गुर्जर देश दक्षिणी राजस्थान में था अतएव यह कहा जा सकता है कि विनयचन्द्र के समय में राजस्थान के समीप पारत नाम का एक देश था। संभवतः विनयचन्द्र के काल से बहुत पहले ही पारत यहां आकर बस गये थे। इस उल्लेख से यह नहीं सिद्ध होता कि पारत विनयचन्द्र के समय में भी एक राजनीतिक शक्ति थे। पूर्व अथवा उत्तर मध्यकाल की किसी रचना में यदि पारत अथवा पारद नाम आता है तो केवल उसी आधार पर उस काल में

पारदो का अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता । यह इसी से स्पष्ट है कि पारत अथवा पारद शब्द का मूल अर्थ ११वी शताब्दी तक विस्मृत हो चुका था । मध्यकाल मे ये शब्द उन लोगो के सूचक हो सकते थे जो पूर्वकालीन पारदो के नाम से सबधित प्रदेश मे रहते थे ।

पुस्तक मे दो परिशिष्ट है । प्रथम मे मिश्रग्रोस की टकसाल की स्थिति का निर्धारण किया गया है । मिश्रग्रोस ज्ञात कुषाण शासको मे सर्वप्रथम है । टॉल्स्टोव (Tolstov) ने उसकी टकसाल को ग्राक्सस (Oxus) नदी के उत्तर मे स्थित बतलाया था । इस मत के समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि उसके चादी के टेट्राड्राक्म ख्वारज्म के सिक्को से मिलते-जुलते हैं और उसके ग्रोबोली (oboli) सिक्के हिर्कोड्स (Hyrcodes) फसीगकारिस (Phseigacharis) ग्रादि के सिक्को से तुलनीय हैं जो ग्राक्सस के उत्तर मे स्थित प्राचीन सोग्डिग्राना अथवा उसके समीप मिलते है । फिर मिश्रग्रोस के सिक्के ताशकन्द, तिरमिढ ग्रादि स्थानो से प्राप्त होते हैं । मिश्रग्रोस के द्वारा पुनराहृत बैक्ट्रिया के सैल्यूकसवश का एक सिक्का भी इस मत के समर्थन मे है क्योकि इस वश के सिक्को का ग्राक्सस के समीपस्थ देशो मे अनुकरण होता था ।

किन्तु मिश्रग्रोस के सिक्के ग्राक्सस के दक्षिण मे भी प्राप्त होते हैं । मिश्रग्रोस के सिक्को के पृष्ठभाग की विधि का गोण्डोफारेस प्रथम के द्वारा अनुकरण भी मिश्रग्रोस के सिक्को के हिन्दुकुश के दक्षिण मे प्रचलन को सिद्ध करता है क्योकि गोन्डोफारेस का अधिकार हिन्दुकुश के उत्तर ग्रौर सभवत काबुल पर भी नही था । इसी प्रकार परत लोगो के दो तांबे के सिक्को पर (इनमे से एक को कनिंघम ने मिश्रग्रोस का ही माना था) मिश्रग्रोस के टेट्राड्राक्स के पृष्ठभाग की विधि ग्रौर खरोष्ठी लेख का अनुकरण भी हिन्दुकुश के दक्षिण मे मिश्रग्रोस के सिक्को का प्रचलन सिद्ध करते हैं । यह परत सिक्के हिन्दुकुश के दक्षिण के क्षेत्रो मे प्रचलनार्थ थे, यह इन बातो से सूचित होता है कि ये इण्डो-ग्रीक तौल माप पर ग्राधारित हैं ग्रौर इनके पूर्वभाग का उर्ध्वशरीर हर्मेयुस के सिक्को से प्रभावित है जिनका अनुकरण काबुल घाटी मे किया गया था ।

मिश्रग्रोस के सिक्के ऐट्टिक माप पर ग्राधारित है । मिश्रग्रोस के काल मे यह तौल हिन्दुकुश के दक्षिण मे नही प्रचलित थी । अतएव ये सिक्के हिन्दुकुश के उत्तर मे ढले थे (इस ग्राधार पर टार्न का मत है कि मिश्रग्रोस के सिक्के कापिश मे ढले थे स्वीकृत नही हो सकता) । इसी प्रकार मिश्रग्रोस की टकसाल ग्राक्सस के उत्तर मे सोग्डिग्राना मे नही हो सकती जहा ऐट्टिक टेट्राड्राक्म से भिन्न एक तौल माप प्रचलित थी ।

लेखक के अनुसार मिश्रग्रोस के सिक्के बैक्ट्रिया के ता-हिशग्रा प्रदेश की टकसाल मे ढले थे । इसी प्रदेश मे यूएह-चिह लोग ग्राकर बसे थे ग्रौर क्यूएह-शुग्राग (कुषाण) इनका एक कबीला था । यहा बैक्ट्रिया के प्रारम्भिक ग्रीक शासको के

टेट्राड्राक्म और ओबोली और उनके अनुकरण प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व तक प्रचलित थे। मिअग्रोस के टेट्राड्राक्म इनसे प्रभावित हुए थे यथा उसके सिक्को के पूर्वभाग पर रील (reel) और घुटिकास्थि (Astragalus) की किनारी यूक्राटाइटेस प्रथम और हेलिग्रोक्लेस के सिक्को का अनुकरण है। यहा से मिअग्रोस के सिक्को का व्यापार के माध्यम से आक्सस के उत्तर और हिन्दुकुश के दक्षिण के क्षेत्रो मे पहुचना सरल था।

द्वितीय परिशिष्ट मे उन सिक्को का विवेचन है जिन पर हर्मेयुस और कुजुल के दोनो के नाम मिलते हैं। कुछ विद्वान् इन्हे हर्मेयुस और कुजुल के सयुक्त सिक्के मानते हैं। प्राय विद्वान हर्मेयुस के नाम वाले सभी सिक्को को हर्मेयुस के द्वारा ही प्रचलित मानते हैं, किन्तु यह ठीक नही है। हिन्दुकुश के दक्षिण मे प्रचलनार्थ इण्डो-ग्रीक राजाओ के सिक्को की तौल-माप पर बने हर्मेयुस के सिक्को को कई वर्गो मे बाँटा जा सकता है।

प्रथम वर्ग में अच्छे धातु-परिमाण के चादी के सिक्के हैं। इनमे पूर्वभाग पर किरीट और शिरस्त्राणधारी अश्वारोही अथवा किरीट और शिरस्त्राणधारी उर्ध्व शरीर अथवा किरीटधारी उर्ध्व शरीर है और ग्रीक अक्षरो में लेख है (Basileos Soteros Ermaioy) पृष्ठभाग पर सिंहासनारूढ जियस-मिथ्र (Zeus-Mithra) की आकृति और खरोष्ठी मे लेख महरजस त्रतरस हेरमयस है। प्रथम 'क' वर्ग मे पूर्वभाग पर हर्मेयुस और कैलिग्रोप का किरीटधारी सयुक्त उर्ध्वशरीर और पृष्ठभाग पर किरीट, शिरस्त्राण और शस्त्रधारी अश्वारोही है। इस वर्ग के सिक्को पर प्रथम वर्ग के सिक्को के लेखो के आगे पूर्वभाग मे KAI-KALLIOPES और पृष्ठभाग पर कलियपस जुड़ा हुआ है। प्रथम 'ख' वर्ग के सिक्के वर्गाकार और तावे के हैं। इसके पूर्व भाग पर शकु आकार वाली टोपी (Phrygian Cap) पहने उर्ध्वशरीर और पृष्ठभाग पर अश्व की आकृति है। इन सिक्को पर लेख प्रथम वर्ग के सिक्को वाले ही है। प्रथम 'ग' वर्ग के सिक्के चादी के हैं। ये किरीटधारी उर्ध्वशरीर और सिंहासनारूढ़ जियस-मिथ्र प्रकार के हैं और इन पर भी प्रथम वर्ग के सिक्को वाले लेख ही मिलते हैं। किन्तु ये सिक्के घटिया हैं और इन पर जियस मिथ्र और एकाक्षरी चिन्ह का अकन भी कुछ भिन्न है। द्वितीय वर्ग के सिक्के विधि और लेख मे प्रथम 'ग' वर्ग के समान हैं किन्तु ये अशुद्ध चाँदी के और भद्दी बनावट के हैं और इन पर ग्रीक अक्षर 'ओ' वृत्ताकार के स्थान पर वर्गाकार है। तृतीय वर्ग के सिक्के तावे के और बहुत ही भद्दी बनावट के हैं। इन पर पूर्वभाग पर किरीटधारी उर्ध्वशरीर है किन्तु द्वितीय वर्ग के ग्रीक अभिलेख के SOTEROSS के स्थान पर STEROSSY मिलता है। पृष्ठभाग पर सिंहासनारूढ जियस-मिथ्र और महरजस महतस हेरमयस लेख अथवा पखयुक्त निके और महरजस रजरजस महतस हेरमयस लेख मिलता है। चतुर्थ वर्ग के सिक्के भी तावे के और भद्दी बनावट के हैं। पूर्वभाग पर किरीटधारी उर्ध्वशरीर और ग्रीक लेख BASILEOS STEROSSY ERMAIOY और पृष्ठभाग पर हेराक्लेज

(Herakles) की आकृति और खरोष्ठी लेख कुजुल कसस कुषन यवुगस ध्रमठिदस मिलता है।

तृतीय और चतुर्थ वर्ग के सिक्को पर SOTBROS के स्थान पर STEROSSY लेख से स्पष्ट है कि इनको ढालने वाले को ग्रीक भाषा का समुचित ज्ञान नही था। अतएव ये सिक्के किसी ग्रीक टकसाल मे निर्मित नही हुये थे। ये भारत और उसके सीमावर्ती प्रदेश से ग्रीक राज्य की समाप्ति के बाद के काल मे बने होगें। किन्तु तृतीय वर्ग के कुछ सिक्को पर निके और चतुर्थ वर्ग पर हेराक्लेज की आकृति का हर्मेयुस के निर्विवाद स्वीकृत प्रथम वर्ग के सिक्को पर अनुपलब्धि, यह सूचित करती है कि ये हर्मेयुस के सिक्को के सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी अनुकरण हैं, गैर सरकारी अनुकरण मूल की सभी अथवा प्रमुख विशेषताओ को ग्रहण करता है। तृतीय वर्ग के सिक्को को हर्मेयुस के राज्य के किसी भाग के स्थानीय सरदारो ने ही परवर्ती काल मे कदाचित् चलाया था। चतुर्थ वर्ग की तुलना मे तृतीय वर्ग के सिक्के मूल के अधिक दूर हैं अतएव वे तृतीय वर्ग के उत्तरकालीन हैं। इस प्रकार हर्मेयुस के मूल सिक्को और हर्मेयुस-कुजुल सिक्को के बीच समय का पर्याप्त व्यवधान प्रतीत होता है। यह ठीक भी है—हर्मेयुस की दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम दशको मे और कुजुल के शासन का अन्त पहली शताब्दी से पूर्व नही रखा जाता।

चारसद्दा के कई भाण्डो में हर्मेयुस के प्रथम और प्रथम 'क' वर्ग और उससे पहले के इण्डो-ग्रीक राजाओ के सिक्के ही प्राप्त होते हैं। ये भाण्ड उसके शासनकाल की किसी अशान्त अवस्था अथवा उसके अन्त पर गाडे गये होगे। इन भाण्डो मे द्वितीय वर्ग के सिक्को का सर्वथा अभाव यह सूचित करता है कि द्वितीय वर्ग के सिक्के हर्मेयुस के शासनकाल के बाद के हैं। इसी प्रकार प्रथम 'ग' वर्ग के सिक्को पर उस एकाक्षर चिन्ह का अभाव जो हर्मेयुस के विवादमुक्त प्रथम और प्रथम क' वर्ग तथा उसके ऐट्टिक नाप के चादी के सिक्को तथा अन्य कुछ इण्डो-ग्रीक राजाओ के सिक्को पर प्राप्य है, और उनकी घटिया ढलाई के आधार पर डॉविन्स ने उन्हे हर्मेयुस के बाद का माना है। किन्तु यह निश्चित नही है। इन विशेषताओ को हर्मेयुस के शासन के अन्तिम वर्षों की अव्यवस्था का परिणाम भी माना जा सकता है। द्वितीय वर्ग के सिक्को पर प्रथम ग' वर्ग के ग्रीक अक्षर 'ओ' के वृत्ताकार रूप के स्थान पर वर्गाकार रूप की उपस्थिति भिन्न क्षेत्रो के कारण अथवा द्वितीय वर्ग के प्रथम ग' वर्ग के बाद के होने के कारण है।

इस प्रकार द्वितीय, तृतीय और सम्भवत प्रथम 'ग' वर्ग के सिक्के हर्मेयुस के मूल सिक्को और कुजुल के द्वारा उनके अनुकरण के बीच के काल मे रखे जा सकते है। इन्हे हिन्दुकुश के दक्षिण मे स्थानीय सरदारो अथवा आक्रमणकारी खानाबदोशो ने ढाला था।

पूर्वभाग पर उर्ध्वशरीर और पृष्ठभाग पर अश्वारोही की आकृति वाले पारत सिक्को पर कुजुल और हर्मेयुस के सयुक्त नामो वाले सिक्को का प्रभाव होने से पारत

सिक्को को कुजुल के शासनकाल से पूर्व नही रखा जा सकता जो स्वय हर्मेयुस से बहुत बाद मे हुआ था।

प्रस्तुत ग्रथ मे लेखक को पारदो का भारत मे आने वाली विदेशी जातियो मे से एक के रूप मे अस्तित्व सिद्ध करने मे सफलता प्राप्त हुई है। शक, पह्लव आदि के साथ ही उनके नाम के उल्लेख से स्पष्ट है कि उनको खोरासान मे रहने वाले पार्थियन ही मानना ठीक नही है।

लेखक का यह प्रयास स्तुत्य है। उसने भारतीय और अभारतीय भाषाओ मे लिखी सभी सम्बद्ध सामग्री का सकलन किया है। हो सकता है कि कुछ स्थलो पर अन्य विद्वान् लेखक के द्वारा पारदो का उल्लेख ढूँढने के प्रयास को तर्कसगत न मानें, किन्तु लेखक ने स्वय ही ऐसे स्थलो पर प्रमाणो के वास्तविक स्वरूप और महत्व को स्वीकार किया है। लेखक को उपलब्ध प्रमाणो की सीमाओ मे ही काम करना पडा है, अतएव पारदो के राजनीति इतिहास की विभिन्न अवस्थाओ का ढाचा मात्र ही तैयार हो सका है। सम्भव है इस ग्रथ की दृष्टि से नये प्रमाणो की खोज होने पर पारदो का इतिहास और भी सजीव और मुखर हो जाय। लेखक ने अपना ध्यान केवल राजनीतिक इतिहास के तथ्यो तक ही सीमित नही रखा है। पारदो के सास्कृतिक जीवन के विषय मे भी जो सामग्री उसे प्राप्त हो सकी उसका समुचित विश्लेषण किया गया है।

लेखक तथ्यो और प्रमाणो का पडित है। यह सहायक पाठ्य सामग्री से ही नही झलकता, इस बात से भी सिद्ध होता है कि मूल ग्रथ के १०४ पृष्ठो मे से ३२ पृष्ठ उल्लेख, सन्दर्भ और टिप्पणी के ही हैं। इनमे लेखक ने मुख्य विषय से सम्बद्ध बातो को प्रतिपादित और प्रमाणित किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

# गुप्त सम्राटों का इतिहास*

रामस्वरूप मिश्र

भारत के प्राचीन-इतिहास विषयक ग्रथो मे जितना अधिक गुप्तकाल पर लिखा गया है उतना प्राचीन युग के अन्य किसी काल पर विरल है। इसका कारण सम्भवत इस युग से सम्बन्धित विशिष्ट पुरातात्विक और साहित्यिक सामग्री की बहुलता है। इसीलिए इस आकर सामग्री के आधार पर, प्रारम्भ से ही, इस युग के न केवल राजनैतिक बल्कि आर्थिक, सामाजिक और कला तथा विज्ञान सम्बन्धी सभी पक्षो का प्रामाणिक इतिहास लिखने का प्रयत्न किया गया। १६१० ई० मे स्मिथ ने तथा हेमचन्द्र राय चौधरी ने १६२३ मे क्रमश अपने ग्रन्थो अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया तथा पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया मे इस युग के इतिहास पर प्रकाश डाला था। इसके बाद पिछले दशक तक आयगार, रघुनन्दन शास्त्री, गगा प्रसाद मेहता, राखालदास बनर्जी, बसाक, वासुदेव उपाध्याय, दाण्डेकर, सलातूर, मजूमदार, राधाकुमुद मुकर्जी ने स्वतन्त्र रूप से गुप्त इतिहास पर ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त एलन, रैप्सन, फ्लीट, हार्नले, जायसवाल, मिराशी, अग्रवाल, बाशम और सरकार जैसे विद्वानो ने भी इस युग के अनेक पक्षो पर बहुत विस्तार से लिखा है। एक युग विशेष पर इतने लोगो के द्वारा विस्तरश अध्ययन और उसके स्वीकार के बाद किसी नए ग्रन्थ–वह भी शोध-ग्रन्थ–की रचना साहस की अपेक्षा रखता है। इसलिए एक अन्तराल के बाद श्रीराम गोयल कृत प्रस्तुत ग्रथ दि हिस्ट्री ऑव इम्पीरीयल गुप्ताज को पढकर सुखद आश्चर्य हुआ। निश्चित रूप से स्वीकृत गुप्त राजनैतिक इतिहास के विषय मे भी क्या कोई नई बात कही जा सकती है? यह ग्रन्थ इस सम्भावना का उत्तर प्रतीत होता है। इस प्रस्तुती का रहस्य लेखक के द्वारा ऐतिहासिक घटनाओ का एक सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखना है। उसकी रुचि पूर्ववर्ती विद्वानो के अनुकरण पर यह जानने मे नही है कि 'क्या हुआ' था बल्कि वह एक दूसरे प्रश्न का उत्तर खोजता है कि ऐसा 'क्यो हुआ'। पूर्ववर्ती विद्वानो की अध्ययन पद्धति प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक कालो के लिए भले ही सटीक हो परन्तु

---

* दि हिस्ट्री आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, लेखक डा० श्रीराम गोयल, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद से १६६७ मे प्रकाशित, पृ० ४००, फ० २, मानचित्र १, मूल्य ३०–०० रु०।

लेखक की धारणा के अनुसार गुप्त काल मे जीवन के विभिन्न पहलुओ पर इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि तत्कालीन राजनैतिक विकास को हम विभिन्न सन्दर्भों में भी परख सकते हैं। इस मान्यता की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ महत्वपूर्ण ही नही विचारणीय भी हो जाता है।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय अध्ययन-विधि और उपागम से सम्बन्धित है जिसमे गुप्त इतिहास के आकलन मे प्रयुक्त विभिन्न अभिलेखिक, मुद्रा और साहित्यिक साक्ष्यो के वर्गीकरण और अध्ययन विधि का विश्लेषण किया गया है । साथ ही अब तक के गुप्त-इतिहास लेखन का सधान-वृत्त दिया गया है।

आधुनिक युग में प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास का अध्ययन अठारहवी शती के अन्तिम चतुर्थक मे प्रशासनिक आवश्यकतावश वारेन हेस्टिंग्स के समय मे शुरू हुआ। १७८४ मे विलियम जोन्स द्वारा बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई जिसके बाद चार्ल्स विल्किन्स, हेनरी कोलब्रुक, जे० एच० हेरिंगटन, कैप्टेन ट्रायर और डब्ल्यू० एच० मिल ने अन्य प्राचीन अभिलेखों के साथ गुप्त अभिलेखो को पढने में सफलता प्राप्त की। इस शृखला मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि जेम्स प्रिसेप की है जिन्होंने १८३१ मे गुप्त वर्णमाला की तालिका प्रस्तुत की। आरम्भिक विद्वानो का आभिलेखिक अध्ययन पाठदोष और भ्रामक अनुवादो से भरा होने के बाद भी निष्ठावान प्रयास की दृष्टि से सराहनीय है। गुप्त इतिहास के अध्ययन की दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था कनिघम के भिलसा टोप्स मे प्रकट हुई जिसमे उन्होने अलबेरुनी के साक्ष्य पर गुप्त सवत् का प्रारम्भ ३१९ ई० निर्धारित करते हुए इस वश के राजाओ का राज्यारोहण-काल और वशावली का निर्धारण किया। दुर्भाग्य से बाद में उन्होंने अपने इस सही मत का खण्डन कर डाला और ३१९ ई० को गुप्त वश का विनाश वर्ष स्वीकार किया।

उन्नीसवी शती के अभिलेखिकी विशारदो ने आभिलेखिक स्रोत को अक्षरश प्रमाण रूप मे स्वीकार किया। उन्होंने यह अनुभव नही किया कि अभिलेख भी पुराण, महाकाव्य, ऐतिहासिक चरितावली, वशावली और विदेशी विवरणो की भाँति साहित्यिक कोटि का है तथा इसमे लेखक या लिखाने वाले के व्यक्तिगत झुकाव और पक्षपात भावना का समावेश है। लेखक की धारणा है कि अभिलेख पुरातात्विक साक्ष्यों की तरह सीधे अतीत से वर्तमान मे नही प्रकट होता और इसमे हमेशा लेखक की विशिष्ट 'मानसिक अवस्था' सक्रिय रहती है अस्तु यह गौण साक्ष्य है। ऐसी अवस्था मे इस स्रोत का उपयोग करते समय इतिहासकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह स्वय को अभिलेख के रचनाकार से तद्रूप होकर विचार करे जो सर्वथा सुगम नही है। अस्तु परम्परात्मक दृष्टि से पुरातत्व की एक शाखा के रूप मे स्वीकृत अभिलेखिकी वस्तुत साहित्यिक कोटि की है। विशेषकर प्रशस्तियो पर तत्कालीन ऐतिहासिक विचारो और अनुमान तथा व्याख्या की विधियो की गहरी छाप है।

प्राचीन अभिलेख या तो व्यक्तिगत है अथवा राजकीय या राज्याधिकारियों द्वारा लिखवाये गये । पहली कोटि मे मुख्यतया धार्मिक दान, पूजा या प्रतिमा प्रतिष्ठा का उल्लेख है । कुछ एक व्यक्तिगत लेखो मे समसामयिक राजा, उसकी वंशावली और उपलब्धियो की चर्चा भी मिलती है । परन्तु इनमे राजकीय अभिलेखो जैसी सटीक सूचना पर बल देना अनिवार्य नही था जैसे कुमारगुप्त प्रथम को मानकुवर बुद्ध प्रतिमा अभिलेख मे केवल 'महाराज' कहा गया जिसके आधार पर फ्लीट ने यह निष्कर्ष निकालने की भूल की कि अन्तिम दिनो मे इस राजा की शक्ति काफी क्षीण हो गई थी और उसका अस्तित्व पुष्यमित्रो और हूणो के सामन्त के रूप मे था ।

राजकीय अभिलेख दो प्रकार के हैं—प्रशस्ति अथवा पूर्वा (यद्यपि डी० सी० सरकार दोनो को एक नही मानते) और ताम्र-शासन । प्रशस्ति किसी राजा की कीर्ति या उपलब्धियो का बखान है और इसका सम्बन्ध प्रतिष्ठा समारोह से जुडा है जैसे मन्दिर या ध्वज स्तम्भ की स्थापना या अन्य निर्माण । ताम्र-शासनो मे विद्वान ब्राह्मणो धार्मिक सस्थाओ या योग्य व्यक्तियो को प्रदत्त राजकीय अनुदान की चर्चा है जो सामान्यतया ताम्र-पट्ट पर और कदाचित प्रस्तर पर उत्कीर्ण किये जाते थे । इनका महत्व न्यायिक और धार्मिक पक्ष के अध्ययन मे है । इनकी रचना मे धर्मशास्त्रो के नियमो का कडाई से पालन किया गया है । दान दी गई भूमि या सम्पत्ति के विवाद मे यह शासन प्रमाण-रूप प्रस्तुत किये जाते थे । अभिलेखो का प्राप्तिस्थल राज्य विस्तार के निर्धारण मे सहायक है । प्रशस्तियो और ताम्रशासनो से हमे राजाओ की वशावली का पता चलता है । वशावली का उल्लेख धार्मिक दृष्टि से किया है जिसके कारण समानान्तर शाखा के राजाओ यथा रामगुप्त का नाम उसमे नही आता । गुप्त वशावली मे रामगुप्त के नाम का उल्लेख न होना राजनीतिक कारणो या उसके दुष्कर्मों के कारण नही है । प्रशस्तियो की भाषा और प्रतीकात्मक अभिव्यजना पर तत्कालीन साहित्य का प्रभाव है यथा स्कन्द गुप्त का लक्ष्मी द्वारा वरण किया जाना । प्रशस्तियो मे वर्णित दिग्विजय तीन तरह की हैं —१ सर्वपृथ्वीविजय और 'चतुस्समुद्रपर्यन्त', जो अस्पष्ट परम्परात्मक और चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना से प्रभावित है । २ सीमान्त पर्वतो, नदियो, समुद्र या क्षेत्रो का विजयोल्लेख । ३ विजित राज्यो और राजाओ का नामोल्लेख । गुप्त प्रशस्तियो मे यह तीनो रूप दिखाई पडते हैं । मध्ययुगीन प्रशस्तियो मे इस प्रकार के विवरण अतिशयोक्ति पूर्ण हैं । क्योकि उनकी सपुष्टि अन्य साक्ष्यो से नही होती जबकि गुप्त प्रशस्तियो के दिग्विजय विवरण अन्य साक्ष्यो के साथ मिल कर अक्षरश सत्य प्रतीत होते हैं । गुप्त और समसामयिक अभिलेख राज्य वर्ष और नियमित सवत मे तिथ्याकित हैं । कुछ अभिलेख बिना तिथि के भी हैं या उनके सवतो का सही आरम्भ अनिर्धारित है । अतिथ्याकित अभिलेखो का काल निर्धारण केवल लिपि के आधार पर सटीक नहीं है ऐसा लेखक का मत है ।

गुप्त 'न्युमिसमेटोग्राफी' का सक्षिप्त उल्लेख करते हुये लेखक ने इतिहास स्रोत के रूप मे मुद्राओ को पुरातत्व और अभिलेख के मध्य रखा है । मुद्राओ के प्रतीक, अभिलेख और आकार-प्रकार, धातु और वजन से कालक्रम आदि तय करने मे सहायता मिलती है । अत साक्ष्य के रूप मे मुद्राओ से कई बार ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो अन्यत्र नही हैं यथा कुमारगुप्त द्वारा अश्वमेघ यज्ञ किया जाना । प्रथम चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार के सिक्के मे भी विशिष्ट राजनीतिक घटना सकेतित है । सिक्को के प्रकार के अध्ययन से राजा विशेष की अभिरुचि, उसके जीवन की घटनाओ का भी अनुमान लगाया जा सकता है । परवर्ती गुप्त सिक्को मे मिलावट की बढोत्री के आधार पर तुलनात्मक कालक्रम निर्धारित किया जाता है यद्यपि इसे निरपेक्ष प्रमाण के रूप मे सर्वथा प्रयुक्त नही किया जा सकता ।

साहित्यिक स्रोतो मे उपलब्ध साक्ष्यो के स्वरूप की समीक्षा करते हुए लेखक ने विश्वम्भरशरण पाठक (एन्शियन्ट हिस्टोरियन्स ऑव इण्डिया) के मत से सहमति व्यक्ति की है कि गुप्तकालीन साहित्य, वश और चरित परम्परा के मध्य सक्रमण स्तर का परिचायक है । पहला चरित साहित्य बाण का हर्षचरित है जो उत्तर गुप्त कालीन है और गुप्तो के उदय के समय पौराणिक वश परम्परा समाप्तोन्मुख थी । यही कारण है कि पुराणो मे गुप्तो का उतना विस्तृत उल्लेख नही प्राप्त होता । देवीचन्द्रगुप्तम् और बौद्धग्रथ आर्यमजुश्रीमूलकल्प मे गुप्त इतिहास के विवरण को समझने के लिये तत्कालीन इतिहास विषयक अवधारणा और स्वरूप को समझना आधुनिक इतिहासकार के लिए अनिवार्य है अन्यथा भ्रामक निष्कर्ष उपस्थित होगे । अध्याय के अन्त मे गुप्त वश पर लिखे आधुनिक ऐतिहासिक ग्रथो की सधान-वृत्तीय समीक्षा अत्यन्त विशद रूप से करते हुए लेखक ने पाश्चात्य इतिहासकारो के विभिन्न सम्प्रदायो के मत-मतान्तरो की यथेष्ट शल्य क्रिया की है । उन्होने दर्शाया है कि प्रारम्भिक यूरोपीय इतिहासकार रोमाण्टिक और अनुदारवादी सम्प्रदायो मे विभक्त थे । भारतीय स्वतन्त्रता के बाद ए० एल० बॉशम जैसे इतिहासकारो ने किंचित तटस्थ और निस्पृह भाव से भारतीय इतिहास का अवलोकन किया और चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य को तत्कालीन विश्व का सर्वाधिक सभ्य क्षेत्र करार दिया । भारतीय इतिहासकारो की कृतियो का मूल्याकन करते हुए गोयल ने उसे राष्ट्रीयतावादी दृष्टि-कोण का सिद्ध किया है । इसमे भी जायसवाल और भण्डारकार के मतावलबियो के दो सम्प्रदाय थे ।

नये उपागम या दृष्टिकोण की आवश्यकता पर विचार करते हुए लेखक ने सुझाया है कि राजनीतिक इतिहास की कोई भी परिभाषा सर्वस्वीकार्य नही हो सकती । फिर भी यह मत सर्वग्राह्य होता जा रहा है कि राजनीतिक इतिहास मात्र घटनाओ या कतिपय प्रमुख व्यक्तियो के चरित्र का आलेखन नही है । वस्तुत यह सामाजिक जीवन का राजनीतिक पहलू है अथवा राजनीतिक घटनाओ का उनके अवस्थितिक सन्दर्भों मे अध्ययन है ।

द्वितीय अध्याय 'मध्य गगा की उपत्यका' मे गुप्तो के मूलस्थान, उनके अभ्युदय के कारण, सामाजिक परिवेश, मगध के हस्तान्तरण और चन्द्रगुप्त प्रथम की विजयों का विवेचन है। चतुर्थ शती ईस्वी के प्रारम्भ मे किसी साम्राज्यिक शक्ति के उदय योग्य परिस्थिति तैयार हो चुकी थी। छठी शताब्दी ई० पू० की परिस्थिति जिसमे प्रथम मगध साम्राज्य का उद्भव हुआ, इस समय भी प्रस्तुत थी। सारा उप-महाद्वीप छोटे-छोटे नृपतन्त्रात्मक अथवा गणतन्त्रात्मक राज्यो से भर गया था। उत्तर पश्चिम और पश्चिम भारत सासानी, कुषाण, शक और शकक्षत्रपो के प्रभुत्व मे था। 'इतिहास स्वत को दुहराता है'—इस उक्ति पर विश्वास करते हुये बहुत से विद्वानो ने चतुर्थ शताब्दी ईस्वी मे मगध मे गुप्त साम्राज्य के उदय का मत प्रतिपादित किया है। इस मत का मूल आधार सातवी शताब्दी के चीनी पर्यटक इत्सिग का विवरण है जिसके अनुसार ५०० वर्ष पूर्व चे-लि-कि-तो (श्रीगुप्त) राजा ने मी-ली-क्या-सी क्या-पो-नो (मृगशिखावन) के समीप चीनी यात्रियों के लिए एक मन्दिर बनवाया और उसके लिये २४ ग्राम दान दिए। इत्सिग की यात्रा का काल ६७१-६५ ई० है, अत श्रीगुप्त का समय दूसरी शताब्दी होगा जो गुप्तो के कालक्रम मे ठीक नही बैठता। दूसरी बात मृगशिखावन की पहचान उक्त विवरण के दो अनुवादो (बील और शॉवानीज) मे क्रमश: सारनाथ या मुर्शिदाबाद मे किसी स्थान से की जा सकती है। इत्सिग के विवरण को विवादास्पद मानते हुये लेखक ने गुप्तो का आदि देश पूर्वी उत्तर प्रदेश स्वीकार किया है क्योंकि—१ गुप्त मुद्राशृंखला का प्रचीनतम प्रकार 'प्रथम चन्द्र-गुप्त—कुमारदेवी' मथुरा, अयोध्या, लखनऊ, सीतापुर, टाण्डा (रायबरेली), गाजी-पुर, बनारस, (सभी उत्तर प्रदेश मे) और बयाना (भरतपुर-राजस्थान) से मिला है। प्रथम चन्द्रगुप्त का केवल एक सिक्का हाजीपुर (मुजफ्फरपुर-बिहार) निधि मे मिला है। २ पूर्वी उत्तर प्रदेश से गुप्तो के सुवर्ण सिक्को की १४ निधियाँ प्राप्त हुई हैं जबकि बिहार और बगाल से प्रत्येक मे केवल दो विधि। इन निधियो मे प्राप्त सिक्को के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि बिहार और बगाल की निधियो मे पूर्ववर्ती गुप्त राजाओ के सिक्के पूर्वी उत्तर प्रदेश की निधियों की अपेक्षा कम हैं। ३ आरम्भिक गुप्त काल के अभिलेख भी अधिकाशत. पूर्वी उत्तर प्रदेश से मिले हैं। उदाहरणार्थ गुप्त राज्य के प्रथम १५० वर्षों के १५ अभिलेखो मे दो मगध से, ५ बगाल से और ८ पूर्वी उत्तर प्रदेश से हैं। बिहार मे समुद्रगुप्त के ताम्र-दानपत्र गया और नालन्दा से मिले हैं जो अधिकाश विद्वानो की राय मे जाली हैं। ऐसी स्थिति में गुप्तो के तथाकथित मूलस्थान मगध से सम्बन्धित एक भी अभिलेख नही बचता। दूसरी बात अगर ये दोनो लेख किसी पूर्ववर्ती लेख की नकल हैं तो भी गया दानपत्र अयोध्या से जारी किया गया था। ४ अभिलेखो की प्रकृति के विश्लेषण से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। बगाल से प्राप्त पाँचो अभिलेख प्रथम कुमारगुप्त के दानपत्र हैं जो सरकारी भूमि के क्रय की चर्चा करते हैं और जिनसे उस क्षेत्र मे गुप्तो के अधिकार की ही बात सिद्ध होती है। ऐसा कोई सकेत इन अभिलेखो मे नही है जिससे

इसे गुप्तो का मूल स्थान सिद्ध किया जा सके। दूसरी तरफ पूर्वी उत्तर प्रदेश के ८ अभिलेखो मे ३ प्रस्तर स्तम्भ, ३ प्रस्तर खण्ड और दो प्रतिमा अभिलेख हैं। समुद्र-गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति और स्कन्दगुप्त का भितरी प्रतिष्ठा-शासन निश्चय ही उनके मूलस्थान के परिचायक हैं। ५ वायुपुराण मे उल्लेख है कि 'गुप्तवशीय नरेश अनु-गगा प्रयाग, साकेत और मगधो को भोगेंगे।' विष्णु पुराण मे किंचित भिन्न विवरण है—'प्रयाग तक विस्तृत गगा के तटवर्ती प्रदेश को मागध और गुप्त भोगेंगे।' इन उल्लेखो मे मागधो को गुप्तो से भिन्न बताते हुये लेखक ने मागधो को लिच्छवियो से अभिन्न माना है और इसमे गुप्त-लिच्छवि सम्बन्धो का सकेत व्याख्यायित किया है।

गुप्तो के उत्थान का प्रमुख कारण भू-राजनीतिक (जियोपोलिटिकल) है। उत्तर-पश्चिम भारत प्राय पाँचवी शती ई पू से विदेशी शक्तियो के अधीन होने के कारण राष्ट्रीय पुनरुद्धार मे अग्रणी नही हो सकता था। पश्चिम मे इस समय क्षत्रियो का प्रभुत्व था। दक्षिण और सुदूर दक्षिण की राजनैतिक शक्तियाँ कभी भी उत्तर भारत पर स्थायी प्रभुत्व नही कायम कर सकी। उत्तर भारत के विजय प्रयाण मे भी उन्होने उत्तरी राजवशो की अपेक्षा अधिक कठिनाई का अनुभव किया। सात-वाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट और मराठो की असफलता इसका प्रमाण है। दक्षिण के वाकाटको ने अवश्य ही पुनरुद्धार का प्रयास किया, परन्तु वे अधिक सफल नही हुए। इन परिस्थितियो मे गगा की घाटी से ही नेतृत्व मिल सकता था, गगा घाटी मे आधु-निक विहार, वगाल और उत्तर प्रदेश सम्मिलित है। मगध मे प्रथम साम्राज्यिक राजवश के उदय का मुख्य कारण उसकी उदारवादी परम्परा, परिवर्तनशील सामा-जिक सरचना, विरोधी शक्तियो के विरुद्ध स्थिति और खनिज स्रोत थे। द्वितीय शती ई पू मे वैक्ट्रियाई आक्रमण से शक्तिकेन्द्र मे परिवर्तन हुआ। विदिशा ने पाटलिपुत्र के वैभव का स्थान ले लिया। उत्तर भारत का वहुताश कुषाणो ने जीत लिया जिनका केन्द्र उत्तर-पश्चिम मे था। कुषाणो के पतन के साथ पुन उत्तर भारत मे राजनैतिक शून्यता उत्पन्न हुई और मालव, यौधेय, आर्जुनायन, मद्रक (पूर्वी पजाब एव राजपूताना), नाग (पश्चिमी उत्तर प्रदेश) और मघ (कौशाबी) आदि अनेक छोटी-छोटी शक्तिया उठ खडी हुई। पौराणिक, जैन तथा चीनी साहित्यिक साक्ष्यो से सिद्ध होता है कि कुषाणोत्तर काल मे मगध पर मुरुण्डो का शासन था जो शक, कुषाणो से भिन्न होने के वाद भी सीथियन जाति के ही एक अश थे। निश्चित समय निर्धा-रण का ठोस आधार न होते हुए भी लेखक ने माना है कि तीसरी शताब्दी के अन्त मे लिच्छवियो ने मुरुण्डो को समाप्त कर मगध पर अधिकार कर लिया। सिन्ध के वाद मगध अन्तिम क्षेत्र था जिसने विदेशी शक्ति से मुक्ति प्राप्त की। इसके अति-रिक्त मगध आन्ध्र, चेदि या कुषाण शक्तियो का अवरोध कर सकने कि स्थिति मे नही था। यही कारण है कि तीसरी चौथी ई० मे नागो के अधिकार मे मथुरा और पद्मावती, मघो के अन्तर्गत कौशाम्बी और गुप्तो के अधीन प्रयाग राजनीतिक प्रभु-सत्ता के प्रवल केन्द्र के रूप मे विकसित हुए।

गगा की उपरली घाटी की तत्कालीन प्रशासन व्यवस्था का भी इस उत्थान मे महत्वपूर्ण योगदान है। इस क्षेत्र मे अनेक छोटे नृपतत्रात्मक राज्य थे जो उत्तर मे नेपाल को छोडकर प्राय सभी ओर छोटे-छोटे जन-जातीय गणतान्त्रिक राज्यो से घिरे थे। गणतत्र राज्य मे साम्राज्यिक भावना का उदय उनकी सवैधानिक परम्पराओ के प्रतिकूल था और परिणामत यह कार्य अन्तर्वेदी के नृपतत्रो के माध्यम से ही समव होना था। गणतत्रात्मक राज्य इस समय सक्रमण की अवस्था से गुजर रहे थे। नृपतत्रो का सामना न कर पाने के कारण उनमे भी नृपतत्रात्मक शासन व्यवस्था के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो रहा था जिसका प्रमाण प्रथम चन्द्रगुप्त के लिच्छवियो के वैवाहिक सबध मे दिखाई देता है। कुमार देवी का पिता वशानुगत सामन्त न होता तो उसके राज्य का उत्तराधिकार कुमार देवी के पुत्र को मिलने का प्रश्न ही नही उठना। यौधेयो ने भी 'महाराज' और 'महासेनापति' उपाधि-धारण की जो नृपतत्रोचित है।

ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण, यज्ञ-याग, भक्ति और पौराणिक धर्म की बढोत्री से इस काल मे एक प्रबल राष्ट्रीय चारित्र्य का विकास हुआ जिसकी प्रतिक्रिया परकीय शासन को उखाड फेंकना था जो मुख्यत उदारवादी धर्म के मानने वाले थे। कला, मुद्रा और प्रशासन का भारतीयकरण इसी प्रतिक्रिया के परिणाम थे। विघटन की प्रवृत्तियाँ भी इस काल मे रुकी और चक्रवर्तिन सम्राट् की भावना ने जोर पकडा। प्रारम्भ से ही मगध उदारवादी धर्म का पोषक रहा है। वैदिक धर्म इस क्षेत्र मे बहुत बाद मे पहुँचा और कोई गहरी छाप न छोड सका। इसी क्षेत्र मे जरासध जैसा क्षत्रिय विदेशी और महापद्म तथा विश्वफाणि (जिसने बर्बरो और मछुआरो का राज्य स्थापित करने का यत्न किया) हुए। मौर्य साम्राज्य भी बौद्ध और जैन धर्म का पक्षपाती था। सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम भारत की धार्मिक अवस्था भी कुछ ऐसी ही थी। मेनान्डर और कनिष्क बौद्ध थे। ऐसी परिस्थितियो मे ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण के लिये सर्वोपरि श्रेष्ठ क्षेत्र ऊपरली गगा उपत्यका ही हो सकती थी।

गुप्त और पूर्व गुप्तकाल मे पूर्वी उत्तर प्रदेश की आर्थिक स्थिति भी काफी अच्छी थी जिसका प्रमाण यहाँ से प्राप्त मुद्रानिधियाँ हैं। ये मुद्रायें आक्रमण से प्राप्त सुवर्ण बहुलता की अपेक्षा औद्योगिक विकास और सतुलित व्यापार का सकेत करती हैं। ईसा की आरम्भिक शताब्दियो के रोमन सिक्के गगा की उपरली घाटी और मुख्यतया प्रयाग क्षेत्र से मिले हैं जो व्यापार की समृद्धता दर्शाते हैं। पुरातात्विक उत्खननो से इस क्षेत्र मे गुप्त कालीन अवशेषो और नगर योजनाओ की बहुलता भी यही प्रमाणित करती है। इस प्रकार यह निश्चित सिद्ध होता है कि विभिन्न कारणो से तीसरी-चौथी शताब्दी ई मे उपरली गगा की घाटी और विशेषकर पूर्वी-उत्तर प्रदेश साम्राज्यिक गुप्तो के उत्थान के लिये महत्त्वपूर्ण परिवेश था।

गुप्तो के पूर्व ही राजनीतिक शक्ति का केन्द्र क्षत्रियो से हटकर ब्राह्मणो के हाथ मे जा चुका था। मौर्योत्तर राजवश यथा शु ग, कण्व, सातवाहन, कदम्ब और

वाकाटक सभी ब्राह्मण थे जिसका प्रमाण साहित्य और उनके अभिलेखो से मिलता है। नासिक प्रशस्ति मे सातवाहन गौतमीपुत्र सातकर्णि को 'एक ब्रह्मन' के साथ 'क्षत्रिय-दर्प-मान-मर्दन' भी कहा गया है। स्मृति ग्रन्थो मे भी योग्य ब्राह्मणो को राजा और महासेनापति बनाने का निर्देश दिया गया। महाभारत के गुप्तकालीन संस्करण मे ब्राह्मण ऋषियो और योद्धाओ का वर्णन भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

गुप्तो की जाति निर्धारण का प्रश्न विवादास्पद रहा है परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ मे उन्हे सबल तर्कों के आधार पर ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता (जो वाकाटक रुद्रसेन द्वितीय को ब्याही गई थी) को उनके अभिलेखो मे 'धारण गोत्र' का कहा गया है। उसके पति का गोत्र चूकि 'विष्णुवृद्ध' था अतः धारण गोत्र उसके पिता अर्थात् गुप्तो का होना चाहिये। यह धारण गोत्र धर्मारण्य मे रहने वाले ब्राह्मणो का है जिसकी पहचान मिर्जापुर के एक क्षेत्र से की जाती है। 'गुप्त' नामान्त होना वैश्य या शूद्र होने का प्रमाण नही है जैसे प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य ब्रह्मगुप्त निश्चय ही ब्राह्मण था। गुप्तान्त नाम सभी जातियो मे मिलते है। गुप्तो के वैवाहिक सबंधो की विवेचना भी उनका ब्राह्मण होना सिद्ध करती है। ब्राह्मण राजा कदम्ब शान्तिवर्मन के तालगुण्ड अभिलेख से पता चलता है कि काकुत्स्थवर्मन ने अपनी एक कन्या का विवाह गुप्त राजा से किया। कदम्ब राजाओ ने अपनी कन्या वाकाटक, गंग और भटारी वंशो मे ब्याही जिसमे वाकाटक निश्चित रूप से और गंग कदाचित् ब्राह्मण थे। प्रभावती गुप्ता का विवाह भी ब्राह्मण से हुआ। छठी शती के बौद्ध लेखक परमार्थ के अनुसार बालादित्य (जो निश्चय ही गुप्त राजा था) ने अपनी एक बहन का विवाह वसुरात ब्राह्मण से किया। यशोधर्मन विष्णुवर्धन के मन्दसोर लेख के अनुसार उसके मन्त्री धर्मदोष के पितामह रविकीर्ति की पत्नी भानुगुप्ता थी। रविकीर्ति निश्चय ही ब्राह्मण था और भानुगुप्ता का सबंध गुप्त राजा भानुगुप्त से जोड़ा जाता है। यह सभी विवाह 'अनुलोम' कोटि के हैं। प्रतिलोम विवाह के स्पष्ट उदाहरण इस काल मे नही मिलते। ऐसी परिस्थितियो मे गुप्तो का ब्राह्मण होना असंदिग्ध है।

तीसरी शती ई० के अन्त मे कौशाम्बी के मघ शासको के पतन का लाभ उठाकर गुप्त वंश के संस्थापक महाराज गुप्त ने अपना स्वतंत्र राज्य कायम किया। गुप्त के बाद उसके पुत्र घटोत्कच ने लगभग ३००–३१९ ई० तक राज्य किया जिसके पुत्र प्रथम चन्द्रगुप्त (३१९–३५० ई०) ने लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी से विवाह कर मगध क्षेत्र पर भी प्रभाव स्थापित किया। इस कूटनीतिक विवाह से गुप्तो को मगध क्षेत्र की समृद्ध खानो पर अधिकार मिल गया। लिच्छवि साम्राज्य पर स्वत्व स्थापित कर ही प्रथम चन्द्रगुप्त संतुष्ट नही हुआ अपितु उसने साकेत को भी जीत लिया जिसका परोक्ष उल्लेख वायुपुराण मे हुआ है। चूँकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे साकेत विजय की चर्चा नही है अत यह माना जा सकता है कि यह क्षेत्र उसके पिता प्रथम चन्द्रगुप्त ने जीता था।

अध्यायोत्तर तीन परिशिष्टियो मे क्रमश 'गुप्त वश का आरंभिक कालक्रम', 'समुद्रगुप्त के नालदा और गया दानपत्र' तथा 'प्रथम चन्द्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार के सिक्को' की विवेचना है। अभिलेखो और मंजुश्रीमूलकल्प के साक्ष्य पर लेखक ने प्रारंभिक गुप्तो का राज्यकाल इस प्रकार निर्धारित किया है १ गुप्त-लगभग २९५–३०० ई०, २. घटोत्कच-लगभग ३००–३१९ ई०, ३ प्रथम चन्द्रगुप्त-३१९–३५० ई०, ४ समुद्रगुप्त-३५०–३७५ ई०, ५. चन्द्रगुप्त द्वितीय-राज्यारोहण-३७५ ई०। लेखक के अनुसार प्रभावतीगुप्ता का विवाह ३८० मे हुआ। नालन्दा और गया दानपत्रो की तिथियाँ राज्य वर्ष हैं तथा चन्द्रगुप्त कुमारदेवी मुद्रा समुद्रगुप्त द्वारा जारी किया स्मारक सिक्का।

ग्रन्थ का तीसरा अध्याय 'चक्रवर्ती गुप्त सम्राटो और उनकी उपलब्धियो' से सबधित है। इसका प्रारम्भ गुप्त-लिच्छवि विलयन के वाद की आभ्यन्तरिक राजनीतिक खीचतान और दवावो के विश्लेषण से हुआ है जिसका मूल कारण ब्राह्मण-सस्कृति क्षेत्र के विस्तारवादी गुप्तो और उदारवादी बौद्ध परम्परा के अनुयायी लिच्छवियो का सैद्धान्तिक और आदर्शगत मतभेद था। परिणाम स्वरूप राजपरिवार और सामन्त दो भागो मे बँट गये। यह स्थिति चन्द्रगुप्त प्रथम के अंतिम दिनो में उत्पन्न हुई। ब्राह्मण-सस्कृति के कतिपय दूरदर्शी सामन्त, मगध क्षेत्र के प्रभावशाली सामन्त, कुमारदेवी और स्वय चन्द्रगुप्त ने समुद्रगुप्त का पक्ष लिया और उसे उत्तराधिकार दिया। इसके विपरीत ब्राह्मण-सस्कृति के पक्षपाती अनेक सामन्तो ने किसी अन्य राजकुमार को उत्तराधिकार देना चाहा जिसकी पहचान काच से की जा सकती है। आर्यमजुश्री मूलकल्प मे बौद्ध विरोधी राजा 'भस्म' का उल्लेख है जो प्रच्छन्न रूप से 'काच' की ओर सकेत करता है। युवान-च्वाग के विवरणो के आधार पर इसकी राजधानी श्रावस्ती सिद्ध होती है। काच के सिक्के भी पूर्वी उत्तरप्रदेश—बलिया, टाण्डा, जौनपुर से मिले हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उसका विद्रोह गुप्त राज्य के केन्द्र मे ही हुआ। प्रयाग प्रशस्ति मे भी इसका परोक्ष उल्लेख है। इन 'विरोधो' मे सफलता प्राप्त करने के वाद समुद्रगुप्त एक महान विजेता के रूप मे उदित होता है जिसने न केवल गगा घाटी का एकीकरण किया अपितु दक्षिणापथ के राजाओ को बन्दी वनाया (ग्रहण), मुक्त किया (मोक्ष) और पुनर्स्थापित किया (अनुग्रह), २. आर्यावर्त के आठ राजाओ को समाप्त किया (प्रसमोद्धरणोद्वृत्त), ३ आटविक राज्यो को दास वनाया (परिचारकीकृत), पाँच सीमावर्ती राज्यो (प्रत्यन्त) और नौ गणराज्यो को हर प्रकार का कर देने (सर्वकरदान), आज्ञापालन (आज्ञाकरण) और सम्मानार्थ उपस्थित होने (प्रणामागमन) के लिये विवश किया। ४. दैव पुत्रपाहि पाहानुपाहि, शक, मुरुण्ड और सिंहल आदि द्वीपो के वासियो को स्वेच्छया 'कन्योपायनदान' (कन्या भेंट करने) और अपने क्षेत्र मे राज्य करने के लिये उसकी मुहर (गरुत्मदक-स्व-विषय-भुक्ति-शासन-याचन) मांगने की स्थिति उत्पन्न की। प्रयाग प्रशस्ति और एरण अभिलेख से ज्ञात समुद्रगुप्त की

इन विजयो का कालक्रम निर्धारण सभव नही है फिर भी यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उक्त अभिलेखो का विजयोल्लेख चार प्रकार के राज्यो और चार तरह की विजय नीतियो के आधार पर है और विजयो मे आर्यावर्त की विजय पहले की गई होगी।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन भू-राजनीतिक परिवेश और अहिर्बुध्न्य-सहिता तथा वायुपुराण के 'चक्रवर्ती आदर्श' और राजनीतिक-दर्शन तथा धार्मिक आदर्शो का सागोपाग विवेचन करते हुये लेखक ने सिद्ध किया है कि—

समान परिस्थितियो मे पश्चिमी उत्तर प्रदेश का नागवश गुप्तो के प्रतिद्वदी के रूप मे विकसित हो रहा था जिसे समुद्रगुप्त ने समाप्त किया। समुद्रगुप्त ने वाकाटक रुद्रसेन प्रथम को समाप्त किया। यह युद्ध अनुमानत एरण मे हुआ। विना वाकाटको को पराभूत किये उसका दक्षिण-प्रयाण युद्धनीति के विरुद्ध होता। इस प्रतिद्व दिता मे राजनीतिक महत्वाकाक्षा के साथ गुप्तो के वैष्णव धर्मावलवन तथा नागो-भारशिवो और वाकाटको के शैव मतानुयायी होने की प्रतिस्पर्द्धिता भी आशिक रूप से उत्तरदायी थी। समुद्रगुप्त द्वारा बगाल का कुछ अश भी जीता गया जिसके पीछे समुद्री बन्दरगाहो के हस्तातरण की आकाक्षा थी। विदेशी व्यापार की दृष्टि से बगाल का इस समय अत्यधिक महत्व था।

सम्पूर्ण गगा घाटी और चम्बल के पूर्व के प्रदेश को आभ्यतरिक साम्राज्य के रूप मे स्थापित कर समुद्रगुप्त ने इसकी सुरक्षा के लिये सीमावर्ती राज्यो के प्रति उदारता की नीति स्थापित की। इसका मुख्य कारण 'ट्राइबल' राज्यो की पृथक् सामाजिक राजनीतिक परम्परा और आर्थिक व्यवस्था थी जो गगा की घाटी के लोगो से मेल नही खाती थी। समुद्रगुप्त ने ऐसे भौगोलिक क्षेत्रो को जो प्रत्यक्ष नियत्रण मे नही रखे जा सकते थे केवल अपने प्रभाव मे रखा। उसकी दक्षिण की विजये केवल धनलिप्सा के कारण थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे दक्षिण भारत का पूर्वी तट रोमन आदि देशो से व्यापार कर पर्याप्त धन बटोर रहा था। खारवेल और अलाउद्दीन की विजयो का उदाहरण देते हुये लेखक ने यह मत व्यक्त किया है समुद्र-गुप्त ने दक्षिण मे एकाधिक अभियान किये। कुछ अभियान नौसेना के माध्यम से हुये और कुछ एक मे वाकाटक पृथ्वीषेण ने भी भाग लिया। आभ्यतरिक राज्य की दूसरी सुरक्षा पक्ति के लिये समुद्रगुप्त ने वैदेशिक शक्तियो पर प्रभाव उत्पन्न किया। उत्तर-पश्चिम मे इस समय सासानी, किदार कुषाण और जुआन-जुआन या शायोनाइट तीन शक्तियाँ थी। जुआन-जुआन की सभावित पहचान श्वेतहूणो से की गई है। लेखक ने सिद्ध किया है कि समुद्रगुप्त के राजत्व काल मे ही इन शक्तियो के उपद्रव प्रारम्भ हो चुके थे जिसे सतुलित करने के लिये उसने शकमुरुण्ड (पजाब मे स्थित) जातियो पर प्रभाव स्थापित किया। इसका प्रमाण हमे प्रयाग-प्रशस्ति, मेहरौली स्तभ लेख (जिसे समुद्रगुप्त का स्वीकार किया गया है) और गडहरो के सिक्को से

मिलता है जिसमे गुप्त राजाओ का नाम भी अंकित है। किदारकुषाणों ने परिस्थिति-वश स्वय समुद्रगुप्त से गठबधन करने का प्रयास किया। लेखक ने सभावना व्यक्त की है कि ३७० ई० के आसपास गुप्त सेनाओ ने हूणो के विरुद्ध वाह्लीक तक धावा किया जिसका उल्लेख मेहरौली लेख मे है। सिंहल आदि द्वीपो से समुद्रगुप्त ने कूट-नीतिक और वैवाहिक सम्बन्ध चीन तथा दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापारिक लाभ की दृष्टि से किया। अध्याय के अन्त में समुद्रगुप्त की उपलब्धियो का मूल्याकन करते हुये उसकी तुलना नेपोलियन से की गई है। समुद्रगुप्त ने अशोक के समय की खोई हुई 'राष्ट्रीय-भावना और राजनीतिक महानता' को शक्ति के बल पर पुन स्थापित कर अश्वमेध यज्ञ कराया और 'विक्रम' की उपाधि धारण की।

अध्यायोत्तर छ परिशिष्टियो 'गुप्त इतिहास मे काच का स्थान' 'समुद्रगुप्त की विजयो का सापेक्ष कालक्रम', 'मेहरौली अभिलेख के 'चन्द्र' का अभिज्ञान', 'गुप्त साम्राज्य की राजधानी', 'वसुबन्धु और गुप्त' तथा 'कालिदास की तिथि' मे तत्सम्बन्धी समस्याओ की नए ढग से व्याख्या इस अध्याय की विशिष्ट उपलब्धि है।

लेखक ने ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय मे साम्राज्य के पश्चिमी रगमच को प्रस्तुत किया है। ३७५ ई० मे समुद्रगुप्त की मृत्यु हुई और उसी वर्ष चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्यारोहण हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय का बडा भाई रामगुप्त मालवा का स्थानीय शासक था। इस काल मे राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र बना पश्चिमी भारत। इसी काल मे उज्जयिनी महत्वपूर्ण प्रान्तीय राजधानी बन गई। साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तो मे शासक के रुप मे भेजे गये राजकुमारो ने इसी काल मे केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी किया। उत्तर भारतीय साम्राज्यो के भौगोलिक विस्तार के विषय मे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गगा घाटी से लेकर बगाल तक के प्रदेश को अधिकृत करने के बाद उनका विस्तार मालवा और गुजरात मे हुआ। गुप्त साम्राज्य का विस्तार भी इसी परम्परा मे है। मालवा मे गुप्त राजकुमारो के प्रशासक रूप मे उपस्थित होने के बाद भी वहाँ के स्थानीय सामन्तो को अपेक्षया अधिक स्वतन्त्रता हासिल थी। जिसका प्रमाण उनके द्वारा भिन्न सवत् का प्रयोग और अपने अभिलेखो मे गुप्त सम्राटो का नामोल्लेख न करने की छूट है। मालवा का यह महत्व शायद उसकी सामरिक स्थिति के कारण था। सभव है इस प्रकार की नीति अपनाना गुप्त सम्राटो की विवशता रही हो। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा शको की पराजय और सौराष्ट्र तक राज्य विस्तार के बाद भी मालवा की यह स्थिति यथावत रही। रामगुप्त, चन्द्रगुप्त का पुत्र गोविन्दगुप्त, घटोत्कचगुप्त (सभवत कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र) मालवा के प्रशासक रहे। कुछ ऐसी ही प्रशासन नीति सासानी सम्राटो ने बैक्ट्रिया के प्रति अपनाई थी जहाँ पर प्रशासको ने ही केन्द्रीय राज्य के प्रति विद्रोह कर स्वतन्त्र राज्य कायम करने के प्रयास किये। लेखक का विचार है कि मालवा के गुप्त कुमार प्रशासको ने भी समय-समय पर विद्रोह किये और रामगुप्त गोविन्दगुप्त तथा घटोत्कचगुप्त का आकलन इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे किया जाना चाहिये।

रामगुप्त विषयक साहित्यिक, आभिलेखिक और मौद्रिक साक्ष्यो पर आधारित विभिन्न सिद्धान्तो का सधानवृत प्रस्तुत करते हुये लेखक ने साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोतो के विरोधाभास को इगित किया है। साहित्यिक साक्ष्यो से लगता है कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के मध्य रामगुप्त ने कुछ समय तक स्वतत्र शासन किया जबकि अभिलेखो मे चन्द्रगुप्त को समुद्रगुप्त का 'तत्परिगृहीत' कहा गया है। केवल पूर्वी मालवा से ही रामगुप्त की ताम्र मुद्राओ की प्राप्ति भी उसके स्थानीय शासक होने का सकेत करती है। रामगुप्त की ऐतिहासिकता ओर उसके चरित्र के सही आकलन के लिये लेखक ने परवर्ती राजवशो के इतिहास से प्रशस्त दृष्टान्त उद्धृत किया है। हर्ष, विक्रमादित्य (छठाँ) (चालुक्य), राष्ट्रकूट ध्रुव और कृष्ण तृतीय के दरबारी लेखको के 'चरित' तथा अभिलेखो मे इस बात के सबल प्रमाण हैं कि उक्त राजाओ ने बलात् राज्यापहरण किया और उनके दोषो तथा अपराधो को 'चरित' लेखको ने छुपाने के लिये सही उत्तराधिकारी को दुष्ट और चरित्रहीन करार दिया। देवी चन्द्रगुप्त के लेखक विशाख ने रामगुप्त को क्लीव और शक राजा को पत्नी समर्पित करने वाला दर्शाया ताकि चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त की विधवा से शादी की घटना छुप सके। विधवा विवाह का कोई दृष्टान्त इस काल मे नही मिलता। इन तर्कों के आधार पर लेखक ने प्रतिपादित किया है कि महत्वाकाक्षी चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सम्पूर्ण राज्य को हडप लिया, रामगुप्त को मालवा से ही सतोष करना पडा, और बाद मे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालवा पर भी आक्रमण कर युद्ध मे रामगुप्त को मार कर उसकी विधवा से शादी कर ली। दरबारी लेखको की ऐतिहासिक विधा के सम्यक् विवेचन से निगमित रामगुप्त विषयक तथ्य सटीक हैं। केवल ताम्रमुद्राओ की प्राप्ति से रामगुप्त को गुप्त शासक न मानना गलत होगा क्योकि इस क्षेत्र मे ताम्रमुद्राओ का प्रचलन अधिक था और चन्द्रगुप्त तथा कुमारगुप्त के अधिकाश सिक्के इस क्षेत्र से ताबे के ही मिलते हैं। लेखक का तर्क है कि बेचारा रामगुप्त इस आर्थिक स्थिति मे नही हो सकता था कि वह सुवर्ण सिक्के जारी कर सके।

रामगुप्त को समाप्त करने के साथ ही चन्द्रगुप्त द्वितीय सम्पूर्ण गुप्त साम्राज्य का एकछत्र शासक बन गया। राज्य की पुरानी सीमा सुरक्षित रही। कामरूप अब भी गुप्तो का प्रभुत्व स्वीकार करता था। मथुरा मे चन्द्रगुप्त की क्रियाशीलता काफी बढ गई। रामगुप्त से सघर्ष के दौरान पश्चिमी शक क्षत्रपो ने पूर्वी मालवा पर आक्रमण किया था। चन्द्रगुप्त के लिये इसका प्रतिशोध अनिवार्य था। आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से भी पश्चिमी क्षेत्र पर आधिपत्य लाभदायक था क्योकि इससे गुप्त साम्राज्य के लिये पश्चिमी समुद्र का मार्ग खुल रहा था। पश्चिमी साहित्यिक स्रोतो मे अनेक साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि रोम और कुस्तुन्तुनिया मे भारतीय रेशम, मसाले और सुगन्धित पदार्थो की अत्यधिक खपत थी। लेखक का विचार है कि लाट देश के कुछ जुलाहो का मालवा मे जाकर बसना (मदसोर अभिलेख के साक्ष्य पर)

व्यापारिक घाटे के कारण नही अपितु अधिक लाभ की उम्मीद के कारण था । शकों के विरुद्ध अभियान के पूर्व चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से कर दिया । इस घटना को कूटनीतिक स्तर पर लेखक ने नही स्वीकार किया है । उसका विचार है कि पृथ्वीषेण गुप्तो का विरोध करने की स्थिति मे नही था और चन्द्रगुप्त का शक विरोधी अभियान इस वैवाहिक घटना (३८० ई०) के प्राय २० वर्ष या इससे भी अधिक बाद का है । ३८५ ई० के लगभग रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हो गई और प्रभावती गुप्ता ने प्रतिनिधि शासिका के रूप मे वाकाटक राज्य का भार लिया । इन घटनाओ का लाभ चन्द्रगुप्त को अवश्यमेव मिला । मुद्राओ और अभिलेखो के साक्ष्य से सिद्ध होता है कि ४१२ ई० के आसपास चन्द्रगुप्त ने क्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय या उसके किसी उत्तराधिकारी को परास्त कर शको का उन्मूलन कर सौराष्ट्र और गुजरात पर अधिकार कर लिया । मजूमदार के विचार से शक-गुप्त युद्ध काफी समय तक चला परन्तु गोयल के मत मे ऐसा कोई प्रमाण नही है । दूसरी बात इस समय तक शक राज्य इतना जर्जर हो चुका था कि उसे पराभूत करने मे चन्द्रगुप्त को अधिक समय लग ही नही सकता था ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय से जुडी विक्रमादित्य परम्परा को लेखक ने नये दृष्टिकोण से परखा है और इसे मध्ययुगीन किंवदन्तियो की देन माना है जबकि चन्द्रगुप्त विषयक ऐतिहासिक तथ्य विस्मृत हो चुके थे । उनके मत मे चन्द्रगुप्त के युद्ध और शान्ति मन्त्री वीरसेन के उदयगिरि अभिलेख के परे कोई ऐसा प्रमाण नही है जिसमे चन्द्रगुप्त की विजयों का उल्लेख देखा जा सके । मेहरौली के चन्द्र का समीकरण चन्द्रगुप्त से कर भी दिया जाय तो स्वीकार करना होगा कि उसने वाह्लीक आदि की विजय अपने पिता के निर्देश पर की। 'अपनी भुजा से सर्वोच्च प्रभुसत्ता की स्थापना' मात्र गर्वोक्ति है । यथार्थत गुप्त साम्राज्य की स्थापना समुद्रगुप्त ने की । चन्द्रगुप्त की उपलब्धियो मे शक विजय, वाकाटको से वैवाहिक सम्बन्ध और 'सम्भवत' बगाल मे किसी विद्रोह का दमन है । लेखक ने चन्द्रगुप्त पर गुप्त-साम्राज्य के प्रति अनवधानता (लापरवाही) का आरोप लगाया है । यह आरोप कुमारगुप्त प्रथम पर भी है जिसका परिणाम स्कन्दगुप्त को भोगना पड़ा । राज्य की शक्ति और सामर्थ्य का उपयोग इन राजाओ ने गुप्त साम्राज्य के विस्तार के लिये नही किया ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम का राजत्वकाल गुप्त साम्राज्य का परिणति काल है । हिन्दुकुश से लेकर बगाल की खाडी तक एक अखण्ड शान्ति की स्थापना और बढते व्यापार से प्राप्त सुवर्णराशि ने ही तत्कालीन साहित्य (कालिदास, दिव्यावदान, महाभारत) मे 'सुवर्ण-वर्षा' को उपमा को जन्म दिया । गुप्त कालीन साहित्य और अभिलेखो मे उत्तग भवनो, गु जायमान बाजारो, धनिको, दानियो, कलावास्तु के प्रेमियो, सुसस्कृत महिलाओ और गोष्ठी (क्लब), आपानक (मदिरा पार्टी), यात्रा (पिकनिक), समाज (त्यौहारो पर एकत्रीकरण) उद्यान यात्रा मे लिप्त नागरको का सजीव चित्रण हुआ है । दशपुर, उज्जयिनी, मथुरा, पद्मावती,

प्रयाग, कौशाम्बी ,वाराणसी, और पाटलीपुत्र आदि नगर इस काल मे अपने वैभव की पराकाष्ठा पर थे। सारांशत नागरिक सभ्यता की बढोत्री के साथ समस्त राज्य मे एक सुखवादी मनोविज्ञान और शान्तिप्रिय दृष्टिकोण विस्तीर्ण हो रहा था । जहाँ समुद्रगुप्त को अपने शरीर पर सैकडो घावो के चिन्ह (व्रण-शताकशोभा) होने का अभिमान था वही पर चन्द्रगुप्त को राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ की भाँति अपने रूप का गर्व था जिसका प्रमाण हमे उसकी मुद्राओं के पृष्ठभाग के चित्रण मे मिलता है। आसन्दी प्रकार के सिक्कों मे 'रूपाकृति' (रूपा कृति) मुद्राभिलेख है। राजा रानी एक ही आसन्दी पर विराजमान है। हाल्ने ने तो इसे 'मदिरापान दृश्य' बताया है। देवी चन्द्रगुप्तम् मे विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त का प्रेम किसी अज्ञातनामा स्त्री माधवसेना से दर्शाया है। प्रौढ़ावस्था मे चन्द्रगुप्त का ध्रुवदेवी (रामगुप्त की पत्नी) से प्रेम भी इन्हीं दृष्टान्तो मे गिना जायगा। उसके द्वारा जारी किए गए सुवर्ण सिक्को के आठ प्रकारो मे केवल दो ही पर उसका सैनिक पक्ष दर्शाया गया है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की अंतिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् ९३ (४१२-१३ ई०) है और गुप्त सम्वत् ९६ (४१५-४१६ ई०) मे हम ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसके पुत्र कुमारगुप्त को शासनारूढ देखते हैं। सबल साक्ष्यो के अभाव मे भी अनुमान किया जाता है कि कुमारगुप्त ने अपना राजनीतिक जीवन काठियावाड के प्रशासक के रूप मे प्रारम्भ किया। जगन्नाथ अग्रवाल आदि विद्वानों के मत मे कुमारगुप्त का राज्यारोहण शान्तिपूर्वक नही हुआ। लेखक इससे सहमत नही है। उनके अनुसार वैशाली मुहर में उल्लिखित ध्रुवदेवी का पुत्र गोविन्दगुप्त कुमारगुप्त का बड़ा भाई नहीं भी हो सकता है। उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है कि कुमारगुप्त प्रथम के पुत्र घटोत्कचगुप्त[1] की भाँति गोविन्दगुप्त पहले वैशाली मे शासक था बाद मे उसे मालवा भेज दिया गया। अस्तु गोविन्दगुप्त ने सम्पूर्ण गुप्त राज्य के शासक रूप मे कभी भी शासन नहीं किया।

कुमारगुप्त के १३ अभिलेखों से हमें किसी राजनीतिक महत्व की घटना का ज्ञान नहीं होता। परन्तु यह सत्य है कि उसने अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित रखा। उसकी मुद्राओं के युक्त दफीने अहमदाबाद, वल्लभी, जूनागढ़ और मोर्वी आदि से मिले हैं। मुद्राओ के पृष्ठ भाग पर गरुड का स्थान मयूर ने ले लिया है। कुमारगुप्त द्वारा दक्षिण मे सैनिक अभियान का अनुमान निम्नलिखित मौद्रिक साक्ष्यो के आधार पर किया गया है —

१ समन्द निधि जिला सितारा। १३९५ रजत मुद्रायें
२ एलिचपुर निधि बरार, १३ सिक्के

---

१. घटोत्कचगुप्त की मुहर भी वैशाली से उपलब्ध है। बाद मे उसे मालवा (तुम्बवन, आधुनिक तुमैन जहाँ से प्राप्त एक लेख मे उसका उल्लेख है) भेज दिया गया जहाँ कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद उसने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया।

३ उसकी 'रजत मुद्राओ के तीसरे वर्ग' के आकार आदि का त्रैकूटक मुद्राओ से साम्य। सभवत ये मुद्रायें उसने त्रैकूटक को हथियाने के बाद जारी की।

वाकाटक राजवश के इतिहास के सदर्भ मे कुमारगुप्त का दक्षिण अभियान काफी महत्व रखता है। लगभग ४१० ई० मे प्रभावती गुप्ता की मृत्यु हुई जिसके बाद उसके पुत्र प्रवरसेन द्वितीय ने प्राय तीस वर्ष तक शासन किया। इस समय तक गुप्त वाकाटक सम्बन्ध सौहार्यपूर्ण रहा। प्रवरसेन द्वितीय के बाद उसका बेटा नरेन्द्र-सेन शासक हुआ जिसने कुन्तल की राजकुमारी अलितभट्टारिका से विवाह किया। कुमारगुप्त अब तक काफी वृद्ध हो चुका था और उसके राजकुमार पुत्र घटोत्कचगुप्त, स्कन्दगुप्त और पुरुशगुप्त आदि अपना दबदबा बढा रहे थे। इन बदलती परिस्थितियो मे गुप्त-वाकाटक सम्बन्ध भी बिगडे। स्कन्दगुप्त आदि के लिए नरेन्द्रसेन एक दूरस्थ सम्बन्धी से अधिक महत्वपूर्ण नही था। वाकाटक अभिलेखो के अनुसार नरेन्द्रसेन के राज्यकाल मे अस्थायी रूप से वाकाटको की प्रतिष्ठा को धक्का लगा जिसका कारण नल राजा भवत्तवर्मन का आक्रमण था। भवत्तवर्मन का रिथपुर अभिलेख वाकाटको की राजधानी नदिवर्धन से जारी किया गया था परन्तु इसका दान प्रयाग मे दिया गया। यह एक विचारणीय तथ्य है कि नल राजा ने गुप्तो के सम्बन्धी वाकाटको को परास्त करने के बाद प्रयाग मे दान किया। इस आधार पर लेखक ने गुप्त और नल राजा की राजनीतिक सधि का सिद्धान्त स्वीकार किया। भवत्तवर्मन स्वय शिव और कार्तिकेय का भक्त था जबकि उसका पुत्र स्कन्दवर्मन वैष्णव था। यह परिवर्तन गुप्तो के प्रभाव के कारण है। रिथपुर दानपत्र का लक्ष्य 'वैवाहिक जीवन की सुखद उपलब्धि' है। सभवत भवत्तवर्मन की पत्नी किसी गुप्त-सामन्त या राज्याधिकारी की पुत्री थी और उसने अपने बेटे का नाम भी स्कन्दगुप्त के अनुकरण पर स्कन्दवर्मन रखा। यही नही नल राजाओ द्वारा जारी किए गए 'श्री महेन्द्रादित्य' और 'क्रमादित्य' मुद्राभिलेख वाले 'उभारदार सुवर्ण सिक्के' उनके अधिराज कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त की ओर सकेत करते हैं। यह सिक्के गुप्त निधियो से नही प्राप्त होते। कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार युद्ध के समय वाकाटक नरेन्द्रसेन ने न केवल नलो को अपने राज्यक्षेत्र से निष्कासित किया बल्कि दक्षिण कोसल (नलो का राज्य) और मालवा पर भी आक्रमण कर खोये हुए वश वैभव को पुन स्थापित किया।

पाँचवा अध्याय गुप्त साम्राज्य के परिणयन और ह्रास से सम्बन्धित है। कुमारगुप्त प्रथम तक गुप्त साम्राज्य की आक्रामक प्रवृत्ति बनी रही परन्तु उसके बाद आन्तरिक तनावो के कारण स्कन्दगुप्त के बाद निश्चित रूप से गुप्त-साम्राज्य सुरक्षात्मक नीति पर आ गया और बुद्धगुप्त के राज्यात तक गुप्त-साम्राज्य के स्वरूप मे महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया।

स्कन्दगुप्त के भितरी और जूनागढ अभिलेख से उसके चार शत्रुओ का ज्ञान होता है— १ पुष्यमित्र (भितरी लेख), २ जूनागढ अभिलेख के आक्रामक राजा

जिसकी पहचान सम्भव नही, ३ हूण अथवा म्लेच्छ क्रमश भितरी व जूनागढ लेख मे वर्णित, ४ मनुजेन्द्र पुत्र (अन्य राजकुमार)। इन शत्रुओ से निपटने मे उसे भूमि पर सोना पडा। परन्तु अन्ततत वह सफल रहा और अपनी सफलता की सूचना माँ को उसी प्रकार जैसे कृष्ण ने देवकी को दी 'लक्ष्मी ने स्वय उसका वरण किया।' इन शत्रुओ पर स्कन्दगुप्त की विजय का कालक्रम निर्धारित करना कठिन है। कम से कम एक सघर्ष उसने कुमारगुप्त प्रथम के जीवन काल मे ही किया और लौटने पर पिता को मृत पाकर विजय सूचना माँ को दी (भितरी लेख)। स्कन्दगुप्त के शासन का आपत्तिकाल जूनागढ प्रशस्ति (४५७ ई०) के पहले ही रखा जाना चाहिये क्योकि इसमे उसके सभी शत्रुओ का उल्लेख है। वहुत सम्भव है कि ३ वर्ष के भीतर (४५४-४५७ ई०) कुमारगुप्त की मृत्यु से जूनागढ लेख के वीच का काल उसने एक साथ ही एकाधिक मोर्चो पर युद्ध किया। स्कन्दगुप्त की दूसरी समस्या उतराधिकार के रूप मे खडी हुई। कुमारगुप्त प्रथम के अप्रतिघ प्रकार के सिक्को, कथासारित्सागर तथा वौद्ध ग्रन्थ चन्द्रगर्भपरिपृच्छा से प्रमाणित है कि अन्तिम दिनों मे राज्यभार स्कन्दगुप्त को सौंप कर कुमारगुप्त वाराणसी चला गया अथवा धर्म-कार्यों मे लग गया। स्कन्दगुप्त के अभिलेखो मे उसे कुमारगुप्त का 'तत्पादानुध्यात' नही कहा गया है और उसकी माँ का नामोल्लेख भी नही हुआ है। इस आधार पर उसे 'रखेल का पुत्र' या राज्य का अपहरण कर्ता नही कहा जा सकता। लेखक का तर्क है कि भितरी अभिलेख मे गद्य से पद्य शैली मे अचानक परिवर्तन के कारण 'पादानुध्यात' छोड दिया गया है। इसके स्थान पर 'पितृपरिगत-पादपद्मवर्ती' शब्द आया है। वैसे भी 'पादानुध्यात' गुप्त अभिलेखो मे सवैधानिक शब्द के रूप मे नही प्रयुक्त हुआ है। उत्तराधिकार युद्ध का कारण यह नही था कि गुप्त साम्राज्य पर स्कन्दगुप्त का अधिकार असवैधानिक था। ज्येष्ठपुत्र या ज्येष्ठ रानी से उत्पन्न पुत्र ही राजा होगा, यह नियम गुप्त उत्तराधिकार मे दिखाई भी नही देता। न ही इसकी पुष्टि धर्मशास्त्रो से होती है। कानूनन उत्तराधिकारी न होने पर भी स्कन्दगुप्त विद्रोह का झडा खडा कर सकता था परन्तु उपरिलिखित कथासारित्सागर आदि सदर्भों से स्पष्ट है कि वह सेना और राजा को प्रिय था। यह वात अलग है कि उसके प्रतिद्वन्दी भी कम शक्तिशाली नही थे जिसके कारण उन्होने स्कन्दगुप्त का विरोध किया। उदाहरणार्थ पुरुगुप्त को लिया जा सकता है जिसे कुमारगुप्त द्वितीय की भितरी-मुहर मे महादेवीअनन्तदेवी का पुत्र कहा गया है। यह अनन्तदेवी विहार अभिलेख मे उल्लिखित कुमारगुप्त के मत्री अनन्तसेन की वहन थी जिससे कुमारगुप्त ने विवाह किया। स्वाभाविक है कि इस रानी से उत्पन्न पुरुगुप्त को अनन्तसेन तथा अन्य मन्त्रियो का सहयोग प्राप्त हुआ होगा। कुछ इसी प्रकार का स्थानीय सहयोग घटोत्कचगुप्त को भी प्राप्त हुआ होगा परन्तु अन्तिम सफलता स्कन्दगुप्त को मिली और गुप्त साम्राज्य कुछ और दिनो तक विघटन से वच सका।

पुष्यमित्रो के आक्रमण की वात भितरी लेख से स्पष्ट है परन्तु उनकी पहचान

विवादास्पद रही है। विष्णुपुराण और वायुपुराण के साक्ष्य पर 'पुष्यमित्र' अथवा पुष्यमित्र की अवस्थिति मेकला प्रदेश मे सिद्ध होती है। इस क्षेत्र से पाण्डववशी राजा भरतवल उर्फ इन्द्र का एक ताम्रपत्र वम्हनी रीवा से मिला है। लिपि के आधार पर यह पाचवी शती ई० के मध्य का है। पाण्डववशी पहले गुप्तो के सामन्त थे। उक्त अभिलेख मे भरतवल ने अपने किसी अधिराज 'नरेन्द्र' का प्रच्छन्न उल्लेख किया है जिसकी पहचान वाकाटक नरेन्द्रसेन से की जानी चाहिये क्योकि उसके पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय का वालाघाट दानपत्र से पता चलता है कि नरेन्द्रसेन की आज्ञाओ का सम्मान कोसल, मेकल और मालवा तक होता था। उपर्युक्त पारिस्थितिक साक्ष्य के आधार पर लेखक का विचार है कि वाकाटको ने कुमारगुप्त की मृत्यु के वाद उत्तराधिकार युद्ध का लाभ उठाकर नलो को पराभूत कर पाण्डववशियो के सहयोग से गुप्तो पर आक्रमण किया। भितरी लेख के पुष्यमित्र की पहचान इस प्रकार मेकल के पाण्डववशियो से हो जाती है। स्कन्दगुप्त के समय हूणो ने दूसरी वार उत्तर पश्चिम से आक्रमण किया। पहला आक्रमण मेहरौली अभिलेख के 'चन्द्र' के समय मे हुआ था। सक्षम होने के वाद भी स्कन्दगुप्त के पूर्ववर्ती गुप्त राजाओ ने पश्चिमोत्तर सीमा के लिये सही, आक्रामक और ठोस नीति नही अपनायी। इसका परिणाम भोगने और हूणो को खदेडने के वाद भी स्कन्दगुप्त ने स्वय इसकी कोई स्थायी व्यवस्था नही की। मौर्यों को छोड कर भारतीय इतिहास मे किसी भी राजवश ने उत्तर पश्चिम की सीमा से आने वाले खतरो की स्थायी व्यवस्था पर ध्यान नही दिया। इसका मुख्य कारण सिन्धु क्षेत्र का गगा घाटी से भौगोलिक दृष्टि से पृथक् होना था। इन दो क्षेत्रो के मध्य थार मरुस्थल मुख्य वाधा था। दोनो क्षेत्रो को जोडने वाला थानेसन-दिल्ली-कुरुक्षेत्र का भाग भी जगलो—खाण्डव, कामाख्या, कुरुजागल और द्वैतवन तथा छोटी-छोटी नदियो से भरा था। इन परिस्थितियो मे अन्तर्वेदी के शासको ने कभी भी इस क्षेत्र पर स्थायी प्रभुत्व जमाने का प्रयास नही किया। समुद्रगुप्त ने भी इस क्षेत्र के राजाओ को सिंहल आदि दूरस्थ लोगो की कोटि मे रखा (प्रयागप्रशस्ति)। यह भौगोलिक कारण विदेशी आक्रमणो के प्रयास के सन्दर्भ मे भी उतना ही सटीक वैठता है क्योकि हम देखते है कि सिकन्दर से लेकर इण्डोग्रीक, शक, कुषाण और काफी अरसे तक तुर्क और मुगल भी केवल पश्चिमोत्तर भारत को ही केन्द्र वनाये रहे। स्कन्दगुप्त के समय मे होने वाला हूण आक्रमण वस्तुत उन हूणो की एक हल्की लहर थी जिसने अत्तिल (मृत्यु ४५३ ई०) के नेतृत्व मे सिन्धु से लेकर डेन्यूव तक के क्षेत्र को आप्लावित किया। स्कन्दगुप्त के राजत्वकाल मे विशेषकर उसके अन्तिम दिनो मे एकाधिक हूण आक्रमण और उसमे स्कन्दगुप्त की पराजय अथवा मृत्यु के सिद्धान्त से लेखक असहमत है। इस तर्क का मूल आधार स्कन्दगुप्त के भारी सिक्को मे मिलावट की प्रतिशतता है जो भ्रामक है।

स्कन्दगुप्त के काल मे मालवा की राजनीतिक स्थिति एक अन्य विचारणीय प्रश्न है। मन्दसोर से प्राप्त मालव सवत् ४६३ और ५२६ (४३६-४७२ के बीच)

के लेख मे कुमारगुप्त और बन्धुवर्मन के राजत्वकाल मे एक सूर्य मदिर के निर्माण की चर्चा है। जिसका जिर्णोद्धार ४७२ ई० मे दशपुर आधुनिक मदसोर के जुलाहो की 'श्रेणी' ने किया। इस अभिलेख मे चर्चा है कि निर्माण के बाद 'अन्य राजाओ के काल' मे इसका एक अश ध्वस्त हो गया। लेखक की धारणा है कि इन 'अन्य राजाओं' मे एक प्रभाकर भी था जिसका ज्ञान हमे मालव सवत् ५२४ (४६७-६८ ई०) के एक लेख से होता है। अभिलेख के अनुसार प्रभाकर के सेनापति दत्तभट्ट जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त के सेनापति वायुरक्षित का पुत्र था एक स्तूप और 'आराम' का निर्माण कराया तथा एक कुआ खुदवाया। स्कन्दगुप्त का समकालीन होने के बाद भी दशपुर मे शासन करने वाले प्रभाकर के सेनापति के लेख में गोविन्द-गुप्त के एक लेख को आधार मानकर कुछ विद्वानो ने 'गोविन्दगुप्त द्वारा विद्रोह' का सिद्धात प्रतिपादित किया जो भ्रामक है। गोविन्दगुप्त इस समय प्राय ८० वर्ष का बूढा था। स्कन्दगुप्त का नामोल्लेख न करने से कही अधिक महत्वपूर्ण बात प्रभाकर को स्पष्ट रूप से मालवा का शासक बताना है। इस प्रभाकर को विद्वानो ने गलती से बन्धुवर्मा का पुत्र या उत्तराधिकारी माना है। परन्तु वश नाम औलिकर तथा नामांत 'वर्मन' के अभाव मे यह सबध स्थापन गलत है। वस्तुत मालवा मे शासन करते हुए घटोत्कचगुप्त ने कुमारगुप्त के विरुद्ध विद्रोह की पताका फहराया जिसको वाकाटक नरेन्द्रसेन ने बढावा दिया। बहुत सभव है कि बदली दशा मे राज्य खोने के भय से बन्धुवर्मन या उसके किसी अज्ञातनाम उत्तराधिकारी ने वाकाटक-गुप्तमित्रो का साथ दिया हो। स्कन्दगुप्त ने इन सभी राजाओ—नरपति भुजगाना मानदर्पोत्फणाना-( जूनागढ लेख ) को प्रभाकर जैसे स्थानीय प्रतिनिधियो की सहायता से (प्रतिकृति-गरुडाज्ञा) दमित किया। अनुमानत ४६७ ई० के पूर्व 'वर्मन' पराजित हुये और प्रभाकर को मालवा का नया शासक नियुक्त किया गया।

राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों के युद्धो के सिवा स्कन्दगुप्त के समय की अन्य राजनीतिक घटनाओ के विषय मे हमे कुछ भी ज्ञात नही। गुप्त साम्राज्य में उसने किसी नये क्षेत्र की वृद्धि नही की थी। खोये हुये मालवा को प्राप्त किया और सुव्य-वस्थित शासन की स्थापना की जैसा कि जूनागढ अभिलेख से प्रमाणित है—

> आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो,
> दण्डेन या यो भृश-पीडित स्यात।

उसने योग्य शासको की नियुक्ति की। गिरनार स्थित सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया। इस प्रकार स्कन्दगुप्त तक गुप्त वश की वैष्णव-आस्था साम्राज्य-वादी महत्वाकाक्षाओ से मेल खाती राजनीतिक दर्शन का सचार करती रही यद्यपि उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को हमेशा बनाये रखा।

गुप्त साम्राज्य के परिणाम और ह्रास मे 'सन्यासवादी आदर्श' का प्रमुख हाथ है। कुमारगुप्त का अप्रतिघ प्रकार का सिक्का और तत्सम्बन्धित साहित्यिक

साक्ष्य इस आदर्श की शुरुआत कहा जा सकता है। अप्रतिघ का पौराणिक अर्थ यद्यपि 'अविजित' है तथापि महायान मे 'प्रतिघ' (क्रोध) को षड्क्लेशों मे गिनाया गया है। बौद्ध लेखक परमार्थ के अनुसार विक्रमादित्य ने रानी को युवराज बालादित्य के साथ बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु के यहा अध्ययनार्थ भेजा। लेखक ने इनकी पहचान स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य और उसके उत्तराधिकारी नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम से की है। आर्यमजुश्रीमूलकल्प मे इन्ही कारणो से स्कन्दगुप्त को 'कम उम्र का होने के बाद भी श्रेष्ठ, बुद्धिमान और धार्मिक राजा' कहा गया। नरसिंहगुप्त बालादित्य प्रथम घोर बौद्ध था और मजुश्री मूलकल्प के अनुसार उसने ३६ वर्ष १ माह की अवस्था मे 'ध्यान' द्वारा आत्महत्या कर ली। उसकी मृत्यु के समय उसका बेटा कुमारगुप्त द्वितीय ४७२–४७५ ई० कठिनाई से १५ वर्ष का रहा होगा। इस स्थिति से फायदा उठा कर पुरुगुप्त के दूसरे बेटे बुधगुप्त ने ४७६ ई० के किंचित पूर्व सैनिक क्राति कर गद्दी हथिया ली। इस काल मे बौद्ध धर्म के प्रभाव की बढोत्री का दूसरा साक्ष्य नालन्दा का महाविहार है। चीनी बौद्ध स्रोतो के अनुसार इस विहार की स्थापना शक्रादित्य (लेखक के मत से कुमारगुप्त प्रथम) ने की और बाद के राजा 'बुधगुप्तराज, तथागत-राज, बालादित्यराज, वज्र तथा मध्य भारत के राजा ने मुक्त दान दिया।

गुप्तो के ह्रास का दूसरा कारण साम्राज्य की 'सामन्त-सघवादी' प्रशासनिक सरचना थी। सामन्तवादी परम्परा के विकास के दो कारण इस समय थे—१ वह शक्तिया जिन्होने गुप्त साम्राज्य की स्थापना मे मदद की। २ गुप्तो का प्रशासनिक सगठन। स्वय समुद्रगुप्त द्वारा नियमित कर देने वाले, आज्ञा मानने वाले और शादी मे लडकी देने वाले को पुनर्स्थापित करने की नीति से ही गुप्त साम्राज्य का सामन्त सघवादी स्वरूप विकसित हुआ यद्यपि समुद्रगुप्त के अधीनस्थ शासको को 'सामन्त' नाम नही दिया गया था। उत्तर भारतीय अभिलेखो मे सर्वप्रथम सामन्त शब्द वैन्यगुप्त के गुणैघर (५०७ ई०) ताम्रपत्र मे मिलता है। मौखरी अनन्त-वर्मन के बराबर लेख मे उसके पिता को 'सामन्त-चूडामणि' कहा गया है। बाण के हर्षचरित मे सामन्तो के जिन कर्त्तव्यो की विस्तृत चर्चा है उससे तो स्पष्ट लगता है कि समुद्रगुप्त के अधीनस्थ शासक कमोवेश सामन्त कोटि के ही थे। प्रयाग प्रशस्ति में जिस 'शासन-याचन' की चर्चा है वह सामन्ताधिकार मागने जैसा ही है। सनकानीक, महाराज त्रिकमल (गु० स० ६४, गया लेख), महाराज स्वामिदास, भुलुण्ड, रुद्रदास (मध्यभारत मे जिनके अभिलेख गु० स० ६७, १०७ व ११७ के प्राप्त हैं) आदि अनेक सामन्तो का परिचय हमे अभिलेखो से मिलता है जिन्होने पर्याप्त स्वतत्रता और स्वच्छन्दता का उपयोग किया। अनेक सामन्तो ने तो अधिराज गुप्त शासको का नाम तक अपने अभिलेख मे नही दिया है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है गुप्त साम्राज्य स्वत ब्राह्मणवादी पुनर्जागरण का राजनीतिक पक्ष था—इस काल मे ब्राह्मणो का राजनीतिक महत्व बढ रहा था। आरभिक पाली साहित्य मे ब्राह्मणो को दिये गये ग्रामदान के सदर्भ मे प्रशासनिक अधिकारो के दिये जाने की कोई चर्चा नही

है परन्तु गुप्त कालीन दानपत्रो से स्पष्ट है कि 'ब्रह्मदेय' कोटि के ग्रामदानो मे हर तरह के प्रशासनिक अधिकार और वेगार लेने तक का हक ब्राह्मणो को प्राप्य था। बुन्देल-खण्ड के परिव्राजक महाराज 'राजन्य' स्तर के थे। ४८४ ई० के एरण अभिलेख मे उल्लिखित ब्राह्मण विषयपति मातृविष्णु स्वय को 'महाराज', 'चतुस्समुद्रान्त' विजेता और 'अनेक युद्धो मे शत्रु का विजेता' आदि घोषित करता है। इस कोटि की शब्दावली समुद्र-गुप्त और स्कन्दगुप्त जैसे सम्राटो ने ही धारण की थी। योगिक, मन्त्रिन् सचिव, अमात्य, सेनापति आदि के पद गुप्तकाल मे वशानुगत हो गये परिणाम स्वरूप केन्द्रीय सत्ता के प्रति अवमानना का भाव जगना स्वाभाविक था। उपरोक्त कारणो से आतरिक ढाचे मे कमजोरी आई जिसका प्रमाण हमे स्कन्दगुप्त की अत्यल्प सुवर्ण मुद्राओ से मिलता है। माना कि उसके लिये युद्धो के कारण आर्थिक विवशता थी परन्तु उसके उत्तराधिकारियो द्वारा कुछ क्षेत्रो मे यथा बुधगुप्त द्वारा सौराष्ट्र मे सिक्के ढलवाना वन्द कर देना उक्त मत की पुष्टि करता है।

अध्यायोत्तर दो परिशिष्ट, क्रमश 'कुमारगुप्त प्रथम के वाद उत्तराधिकार की समस्या स्कन्दगुप्त और उसके प्रतिद्वन्दी' तथा स्कन्दगुप्त के तुरन्त वाद के उत्तरा-धिकारियो से सम्वन्धित है।

छठे अध्याय मे गुप्त साम्राज्य के विघटन और पतन पर विचार किया गया है। बुधगुप्त की मृत्यु के वाद सामन्तो की शक्ति और बौद्ध आदर्शो की वढोतरी के साथ ही तीसरा हूण आक्रमण हुआ। आर्यमजुश्रीमूलकल्प के अनुसार 'चतुर्दिक शत्रुओ से घिरा हुआ बुधगुप्त परास्त हुआ और मारा गया। उसके वाद सभवतः उसका वेटा चन्द्रगुप्त तृतीय विक्रमादित्य भी अस्त्रो से बुरी तरह घायल हुआ। उसके पुत्र वैन्यगुप्त द्वादशादित्य की भी वही गति हुई और वह केवल कुछ महीने ही जीवित रहा।' इन परिस्थितियो मे ५१० ई० के एरण अभिलेख मे उल्लिखित भानुगुप्त ने किंचित अवरोध उत्पन्न किया परन्तु आर्यमजुश्री के अनुसार उसकी भी मृत्यु शीघ्र ही हो गई। गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण के पूर्व हूणो ने पजाव और उत्तर पश्चिम मे अपनी स्थिति काफी सुदृढ कर ली थी। पाचाल के किसी हरिगुप्त ने जो गुप्त कुमार कहा जाता है हूण राजा तोरमाण की मदद की। कौशाम्बी उत्खनन से प्राप्त तोरमाण की मुहरो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने पहले अतर्वेदी पर कब्जा जमाया और पुन मालवा पर आक्रमण किया। भौगोलिक परिस्थितिया हूणो के आक्रमण मार्ग की पुष्टि करती है। मालवा मे तोरमाण की सफलता के वाद गुप्त सामन्तो ने भी उसका पक्ष लिया। इसके आभि-लेखिक साक्ष्य उपलब्ध हैं। मालवा मे तोरमाण की स्थापना का काल लगभग ५१० ई० स्वीकार किया जा सकता है। मजुश्रीमूलकल्प के अनुसार तोरमाण ने प्रकाशा-दित्य को उसके पिता भानुगुप्त की कैद से मुक्त कर उसे नदपुर (पाटलिपुत्र) मे राजा के रूप मे स्थापित कर काशी चला गया। काशी मे वह वीमार पडा और अपने पुत्र ग्रह (मिहिरकुल) का राज्याभिषेक कर मर गया। तोरमाण की मृत्यु ५११–१२ ई०

मे रखी जा सकती है। तोरमाण निश्चय ही एक महान विजेता और कूटनीतिज्ञ था। उसने गुप्तो को अधीन सामन्त की स्थिति तक पहुचा दिया था। मिहिरकुल तोरमाण की भाति कूटनीतिज्ञ नही था। उसने बौद्ध विरोधी नीति का अनुसरण किया। इसका प्रमाण हमे चीनीयात्रियो के विवरण तथा भारतीय बौद्ध साहित्य से मिलता है। वह कट्टर शैव था। यशोधर्मन-विष्णुवद्धन के मन्दसोर लेख से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल का सिर भगवान स्थाणु (शिव का एक रूप) के अतिरिक्त और किसी के समक्ष नही झुका। इसके विपरीत गुप्त राजा नरसिंहगुप्त द्वितीय घोर बौद्ध था। बौद्धो के दमन के कारण उसने मिहिरकुल को कर देना बन्द कर दिया। परिणामत मिहिरकुल ने चढाई की। इस सैनिक प्रयाण मे मिहिरकुल पराजित हुआ और वन्दी बनाया गया। मिहिरकुल की पराजय मे गुप्त सम्राट् की अपेक्षा उसके सामन्तो का प्रवल हाथ था। मालवा के यशोधर्मन ने तोरमाण को पहले परास्त किया। तोरमाण द्वारा कश्मीर पर आक्रमण, उसके अपने भाई द्वारा विद्रोह, मौखरी तथा यशोधर्मन द्वारा उसका विरोध आदि ऐसी राजनीतिक घटनायें थी जिसमे तोरमाण पराभूत हुआ। अन्त मे वह नरसिंहगुप्त द्वारा पकडा गया परन्तु नरसिंहगुप्त की मा के आग्रह पर मुक्त कर दिया गया। हूणो की पराजय से भी गुप्त साम्राज्य उबर नही सका क्योकि मालवा के यशोधर्मन ने गुप्तो के विरुद्ध भी विद्रोह किया। मदसोर से प्राप्त उसके अभिलेख से उसकी महान विजयो का पता चलता है।

नरसिंहगुप्त का उत्तराधिकारी वज्र भी महत्त्वहीन शासक सिद्ध हुआ। उसमे यशोधर्मन की बढती शक्ति को रोकने का ताव नही था। मौखरी अभिलेख से पता चलता है कि उनका सघर्ष 'धारा से आती चिन्गारी' से हुआ जिसका सकेत निश्चय ही यशोधर्मन की ओर है। मौखरियो ने यशोधर्मन की बाढ को रोकने मे मदद की। ऐसी परिस्थिति मे नरसिंहगुप्त द्वितीय के पुत्र और पौत्र कुमारगुप्त तृतीय तथा विष्णुगुप्त ने छठी शती ई० के मध्य तक शासन किया। विष्णुगुप्त गुप्त साम्राज्य का अतिम सम्राट् था। इन अतिम शासको के राजत्वकाल की घटनाओ के विषय मे विशेष कुछ ज्ञात नही है। शक्ति का केन्द्र इस समय पूर्व की ओर खिसक गया था, गुप्तो के पतन के साथ ही वलभी मे मैत्रक, मालवा मे औलिकर, कन्नौज मे मौखरी, मगध मे उत्तर गुप्त वश नई शक्ति के रूप मे उदित हुये। आसाम के शासको ने भी बगाल तक अपना प्रभाव बढा लिया। गुप्तो के विनाश के बाद क्षेत्रीय शक्तियो की जोर आजमाइश शुरू हुई और अन्त मे कन्नौज उत्तर भारत के नये शक्तिकेन्द्र के रूप मे उदित हुआ।

अध्यायोत्तर परिशिष्ट मे 'बुधगुप्त पर्यन्त उत्तराधिकार क्रम' की विवेचना है। आभिलेखिक साक्ष्य से बुधगुप्त के बाद केवल दो गुप्त राजाओ का नाम है-वैन्यगुप्त और भानुगुप्त। वैन्यगुप्त का एक दानपत्र गुप्त सवत १८८ का (गुणैघर-बगाल) प्राप्त हुआ है। नालन्दा से वैन्यगुप्त की एक खडित 'मिट्टी की मुहर' भी मिली है। सिक्को मे उसकी उपाधि द्वादशादित्य है और ये सिक्के केवल दक्षिणी

बगाल से मिले है। भानुगुप्त की जानकारी १६१ गुप्त सवत के एरण लेख से होती है। सम्राटोचित उपाधियो के अभाव मे भी उसे गुप्त अधिराज स्वीकार किया जा सकता है। एक अन्य राजा चन्द्रगुप्त तृतीय की जानकारी केवल सिक्को से होती है। लेखक के विचार से बुधगुप्त के वाद क्रमश. चन्द्रगुप्त तृतीय, वैन्यगुप्त और भानुगुप्त उत्तराधिकारी हुये। बुधगुप्त और चन्द्रगुप्त तृतीय मे क्या सम्बन्ध था कहना कठिन है पर सभवत वे पिता पुत्र थे। वैन्यगुप्त का राज्यारोहण ५०७ ई० के प्रारम्भ मे हुआ। वैन्यगुप्त और भानुगुप्त के सम्वन्ध भी अज्ञात हैं। सभव है भानुगुप्त वैन्यगुप्त का कोई शक्तिशाली रिश्तेदार था जिसने अपने अधिराज के विरुद्ध स्वतत्रता प्राप्त की। भानुगुप्त के वाद की गुप्त वशावली तय करने की समस्या उतनी जटिल नही है तथापि कालक्रम निर्धारण कठिन है। कालक्रम निर्धारण मे सवसे प्रमुख सूत्र है मिहिरकुल और नरसिंहगुप्त वालादित्य द्वितीय की समसामयिकता। यह तय है कि मिहिरकुल ने ५३२ ई० से पूर्व शासन किया जो कि यशोधर्मन के मदसोर अभिलेख की तिथि है। साथ ही उसने ५१० ई० के पूर्व शासन नही किया क्योकि तव मालवा मे भानुगुप्त का शासन था (गोपराज का एरण अभिलेख)। अस्तु वालादित्य द्वितीय का समय इसी अतराल मे रक्खा जा सकता है। मौद्रिक और आभिलेखिक साक्ष्यो के आधार पर वालादित्य के वाद कुमारगुप्त तृतीय क्रमादित्य और विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य ने राज्य किया। परन्तु भानुगुप्त और वालादित्य के मध्य भी एक राजा ने शासन किया जिसकी जानकारी केवल सिक्को से होती है। वह था प्रकाशादित्य। आयमजुश्रीमूलकल्प तथा युआन-च्वाग के उल्लेख भी इस सभावना की पुष्टि करते हैं। प्रकाशादित्य और वालादित्य द्वितीय के सवधो के विषय मे अनुमान किया जा सकता है कि वे पिता पुत्र थे।

विष्णुगुप्त के साथ ही गुप्त राजवश यद्यपि समाप्त हो गया फिर भी इस वश के कुछ कुमार कुछ समय तक उडीसा मे राज्य करते रहे।

डा० गोयल की इस रचना के पश्चात् हिन्दी मे तीन अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ। इनमे सर्वप्रथम गोयल ने ही १९६९ मे एक और ग्रन्थ प्रकाशित किया—भारत का राजनीतिक इतिहास—गुप्त एव समकालीन राजवश[1]। यह एक प्रकार से उनके अग्रेजी ग्रन्थ का हिन्दी सस्करण होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से पुनर्वर्द्धित तथा कलेवर मे पहले ग्रन्थ की अपेक्षा वडा है। इसके प्रकाशन के अगले वर्ष १९७० मे प्रकाशित हुआ डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का गुप्त साम्राज्य[2] तथा १९७१ मे डा० उदयनारायण का गुप्त सम्राट् और उनका काल।

---

१ भारत का राजनीतिक इतिहास–गुप्त एव समकालीन राजवश–लेखक श्रीराम गोयल, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहावाद से १९६९ मे प्रकाशित, पृ० ५४२, फलक २, मानचित्र ३, मूल्य १५ रुपये।

२ गुप्त साम्राज्य, लेखक परमेश्वरीलाल गुप्त, १९७० मे विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित, पृ० ६६६, फलक १६, मूल्य २५ रुपया।

**गुप्त साम्राज्य**--डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का यह ग्रन्थ चार भागो मे विभक्त है--सधानसूत्र, वृत्त सधान, राजवृत्त तथा समाजवृत्त । सधानसूत्र मे लेखक ने क्रमश युग सम्बन्धी अभिलेख, मुहर, सिक्के तथा साहित्य जैसे आकर सूत्रो का परिगणन किया है तो वृत्त-सधान और राजवृत्त के अन्तर्गत गुप्त तथा उत्तर गुप्त सम्राटो के राजनीतिक इतिहास का विवेचन किया है । लेखक ने राजनीतिक इतिहास को लगभग उसी क्रम मे प्रस्तुत किया है जिसका क्रम गोयल के ग्रन्थ मे देखा जा चुका है । तद्विपयक् समस्याओ को पर्याप्त विस्तार न दिए जाने के कारण लेखक उनसे सम्वन्धित सभी मतमतान्तरो का समावेश नही कर पाए है । ग्रन्थ की इस कमी की पूर्ति उसमे समाजवृत्त जोड कर की गई है ।

समाजवृत्त क्रमश. राज्य शासन, सामाजिक जीवन, कृषि-वाणिज्य और दर्शन, साहित्य और विज्ञान तथा कला और शिल्प नामक अध्यायो का सम्मिलित रूप है डा० गुप्त ने इन सभी विषयो पर लगभग २३० पृष्ठो मे लिखने का प्रयास किया है । इसलिए कुछ विपयो को वे केवल छू ही पाए हैं । सर्वप्रथम उन्होने 'राज्य' और 'साम्राज्य' की परिभाषा पर विचार करके तत्कालीन लोकतन्त्र और राजतन्त्रो की चर्चा कर गुप्तो के वर्ण के प्रकाश मे यह जानने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार का व्यक्ति राज्य का प्रधान हो सकता है । इसके बाद उन्होने गुप्त साम्राज्य मे शासक और रानी की स्थिति, उत्तराधिकार तथा राज्य धर्म के नियमो पर प्रकाश डालते हुए शासन के सूत्राधार--अमात्य, कुमारामात्य, सभा, मन्त्री परिपद, केन्द्रीय अधिकारी और प्रादेशिक शासन--का विवरण दिया है । राज्य की प्रादेशिक इकाई ग्राम थी तो नागरिक शासनिक इकाई--पुर । राज्य का मूलाधार था कोश । भूमि निर्विवाद रूप से राज्य की सम्पदा मानी जाती थी । लेखक ने कामन्दकीय नीतिसार के आधार पर गुप्त सेना के चार अग---रथ, पदाति, अश्व और हस्ति स्वीकार किए हैं । सम्राट् 'धर्म' 'व्यवहार' और 'चरित' के आधार पर शासन करता था ।

सामाजिक जीवन के अन्तर्गत तत्कालीन वर्ण व्यवस्था का उल्लेख करते हुए आश्रमव्यवस्था तथा शिक्षा पद्धति पर प्रकाश डाला गया है । गुप्त सम्राटो द्वारा महाविहारो की रचना ने शिक्षा मे महत्वपूर्ण योगदान दिया । लेखक ने गृहस्थाश्रम की सविस्तार चर्चा की है । इसी अध्याय का खान-पान, वस्त्रावरण, आभूपण, प्रसाधन, उत्सव और मनोरजन वाला अश पर्याप्त मनोरजक है । कृपि और वाणिज्य के अन्तर्गत न केवल कृपि, गोपालन, वन-सम्पत्ति, खनिज, जल सम्पत्ति और उद्योगो की चर्चा की गई है वल्कि सार्थवाहो द्वारा प्रयुक्त प्राचीन स्थल और जलमार्गों का विवरण देने का प्रयास भी किया गया है । व्यापार और आयात-निर्यात के मूलाधार श्रेणी और निगमो का उल्लेख कर के लेखक ने सेट्ठियो की बैंक व्यवस्था पर भी सक्षेप मे लिखा है ।

समाजवृत्त का सर्वाधिक कमजोर पक्ष धर्म और दर्शन वाला अध्याय है । इसमे धार्मिक सम्प्रदायो की प्राचीनता के विषय मे अधिक कहा गया है तत्कालीन

अवस्था के विषय में कम। वैदिक देवताओं की उपासना के प्रति लोक आस्था कम हो जाने के बावजूद यज्ञों के प्रति लोगों का आकर्षण बना हुआ था। सामान्यतः लोगों की धारणा है कि गुप्त काल में बौद्ध धर्म अवनति की ओर था परन्तु ऐसा मानने का कोई स्पष्ट कारण नहीं ज्ञात पड़ता। लेखक के अनुसार गुप्त सम्राट् बौद्ध धर्म में इतने आस्थावान नहीं थे जितने कि पूर्ववर्ती शक और कुषाण राजा। परन्तु यह भी सही है कि वे बौद्ध धर्म के प्रति उदासीन भी नहीं थे। बौद्ध धर्म के प्रति जनसाधारण के भाव का प्रमाण तत्कालीन अभिलेखों से प्राप्त होते हैं जिनमें मथुरा, सांची, बोधगया तथा कुशीनगर को बौद्ध धर्म के केन्द्र बताया गया है। वैष्णव धर्म का अपने मूल में पर्याप्त प्राचीन है परन्तु उसका उत्कर्ष गुप्त युग में हुआ। इस समय नारायण-विष्णु-वासुदेव स्वरूपों का इस धर्म में अवतारवाद का प्रवेश हुआ। विष्णु के दशावतार की कल्पना गुप्त युग में प्रचलित थी। इसी समय विष्णु उपासना की परिधि में लक्ष्मी देवी का समावेश होता है। गुप्तकालीन वैष्णव धर्म नाना धाराओं का समन्वय है। यद्यपि अभिलेखों में कुछ गुप्त सम्राटों को 'परमभागवत' कहा गया है और उन्होंने लक्ष्मी और गरुड़ के प्रतीकों का भी प्रयोग किया लेकिन लेखक की दृष्टि में केवल इन्हीं आधार पर उन्हें वैष्णव मतावलम्बी नहीं माना जा सकता। इस युग में यदि वैष्णव धर्म का अधिक प्रचार प्रसार हुआ तो उसका कारण राज्याश्रय नहीं उसका अपना स्वरूप था जिसमें सभी प्रकार के लोक विश्वासों का एकीकरण हुआ था। यही स्थिति शैव धर्म की थी। गुप्त सम्राटों के अधिकारियों में अनेक शैव थे। इस युग में लिंग के अतिरिक्त दुर्गा, कार्तिकेय, सूर्य तथा मातृकाओं की उपासना भी प्रचलित थी।

साहित्य और विज्ञान नामक अध्याय में पुराणों, स्मृति ग्रंथों, सौत्रान्तिक साहित्य के साथ साथ असंग, मातृगुप्त, दिङ्नाग, वसुबन्धु, आर्यशूर, भारवि, कालिदास, विशाखदत्त, भास, शूद्रक और सुबन्धु जैसे कवियों का मूल्यांकन है तो अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण तथा कोश साहित्य का संक्षिप्त विवरण भी। विज्ञान के अन्तर्गत गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, रसायन और शिल्प शास्त्रों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। गुप्तकालीन कला और शिल्प सम्बन्धी सामग्री इतनी बहुल है कि उन पर संक्षेप में लिखना कठिन है। फिर भी तत्सम्बन्धी अध्याय में साहित्यिक सन्दर्भों के अतिरिक्त अजन्ता तथा बाघ के भित्ति चित्रों, गुप्तकालीन मृण मूर्तियों, प्रस्तर प्रतिमाओं तथा मन्दिर वास्तु के अन्तर्गत तत्कालीन स्थापत्य का इतिहास वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

**गुप्त सम्राट् और उनका काल**[1]—डा० उदय नारायण राय का यह ग्रंथ

---

१. गुप्त सम्राट् और उनका काल, लेखक उदयनारायण राय, १९७१ में लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद से प्रकाशित, पृ० ६९६, फलक ६, मानचित्र २, मूल्य ३० रुपया।

कलेवर मे वृद्ध होते हुए भी मूलत गुप्तकाल के राजनीतिक इतिहास की प्रस्तुति मात्र है। १६ अध्यायो और आठ परिशिष्टो मे विभाजित इस ग्रन्थ के तीन अध्यायो को छोडकर शेष गुप्तकाल का राजनीतिक इतिहास वृत्त प्रस्तुत करते हैं जिसकी चर्चा गोयल और गुप्त के ग्रथो मे की जा चुकी है। राय ने अपने चौदहवें अध्याय समाज एव सस्कृति के ५० पृष्ठो मे उन सभी विषयो पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है जिनका विवरण गुप्त ने अपने समाजवृत्त नामक भाग मे दिया है। राय अपने इस प्रयास मे बहुत से महत्वपूर्ण पक्षो को केवल परिगणित ही किया है जैसे धार्मिक सम्प्रदायो पर १२-१२ पक्तिया लिखी गई है। स्पष्ट है गुप्त कालीन वैष्णवधर्म पर १२ पक्तियो मे कहा ही क्या जा सकता है। पुस्तक के पन्द्रहवें और सोलहवें अध्याय क्रमश नवीन शक्तियो और बाह्य सम्पर्क से सम्बन्धित है। नवीन शक्तियो मे लेखक ने मौखरियो तथा उत्तर गुप्त वश का इतिहास वृत्त और हूण-आक्रमण का विवरण दिया है। बाह्य सम्पर्क नामक अध्याय मे भारत का पश्चिमी जगत—मध्य एशिया, दक्षिण-पूर्व-एशिया तथा चीन से सम्बन्ध तथा समाज और धर्म को पृष्ठ भूमि मे भारत के प्रभाव की चर्चा की गई है। ये दोनो अध्यायो की सामग्री का डा० गुप्त के ग्रन्थ मे अभाव है। डा० राय ने अपने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त १९६९ मे प्रकाशित स्टडोज इन एन्शीयेन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर मे भी गुप्त इतिहास सम्बन्धी कुछ सुझाव दिए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुप्त इतिहास पर पिछले करीब आठ वर्षों मे प्रकाशित ग्रन्थो मे वस्तुत गोयल के ग्रन्थो मे ही गुप्त कालीन राजनीतिक इतिहास विषयक नवीन व पर्याप्त तर्क सम्मत सुझाव दिए गए हैं। लेखक की यह धारणा सही प्रतीत होती है कि अब वह समय आ गया है जब मौर्य, कुषाण, गुप्त व वर्द्धन आदि युगो के राजनैतिक इतिहास का तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, प्रशासकीय आदि घटको की पृष्ठभूमि मे अध्ययन किया जाय। अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे ही गोयल ने विविध साक्ष्य के अध्ययन की विधियो एव राजनीतिक इतिहास लेखन के प्रति अब तक अपनाए गए विविध दृष्टिकोणो का विवेचन किया है। जबकि पी० एल० गुप्त आदि का प्रयास मुख्यत अभिलेखो व मुद्रा प्रकारो तथा साहित्यिक ग्रन्थो को गिनाने तक सीमित है। गोयल का यह बताने का प्रयास कि इन साक्ष्य का प्रयोग कैसे किया जाय उनके ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थो से पृथक् कर देता है। विशेष रूप से अभिलेखो मे साहित्यिक प्रतीको के प्रयोग और उनकी व्याख्या की विधियाँ, 'दिग्विजय' प्रशस्तियो की विश्वसनीयता, लिपि के आधार पर अभिलेखो की तिथियाँ निर्धारित करना, मुद्राओ की सहायता से राजनीतिक महत्व की सामग्री का सचय, राज-कवियो द्वारा प्रयुक्त साहित्यिक प्रतीको का प्रयोग, धार्मिक इतिहास के लेखको के दृष्टिकोण की मीमासा इन सबके विषय मे इतनी विस्तृत सामग्री सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ मे उपलब्ध है। इस दृष्टि से पुस्तक का यह अध्याय प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास पर लेखनी उठाने वाले इतिहासकारो के लिए मार्ग निर्देशक हो

सकता है । इस शोध प्रबन्ध मे वस्तुत 'घटनाओ के पुनर्निर्माण' वाला दृष्टिकोण जिसे पूर्वगामी इतिहासकार अपनाते रहे हैं, परिशिष्ठो के रूप मे है । ग्रन्थ के मुख्य भाग मे लेखक ने घटनाओ और तथ्यो का जो या तो निश्चित रूप से ज्ञात हैं अथवा जो परिशिष्ठो मे लगभग निश्चित रूप से स्थापित कर दिए गए हैं, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा प्रशासकीय घटको की पृष्ठभूमि मे अध्ययन किया है । इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा सर्वथा विशिष्ट है क्योकि राय और गुप्त दोनो के ही प्रयास घटनाओ के पुनर्निर्माण तक ही सीमित हैं ।

गोयल ने अपने ग्रन्थ मे अनेक नयी प्रस्थापनाएँ की हैं । जैसे गुप्तो की उत्पत्ति के विषय मे गोयल का तर्क सम्मत सुझाव है कि वे ब्राह्मण जातीय थे । प्राय यह मत अब स्वीकार कर लिया गया है । डा० राजबलि पाण्डेय ने भी इसे स्वीकार किया था । डा० राय ने भी इसे माना है (पृ० ४७ अ०) और इस विषय मे गोयल के तर्कों को दोहराया है परन्तु आश्चर्य है कि उन्होने गोयल के ग्रन्थ का उल्लेख तक नही किया है । डा० गुप्त ने इस प्रश्न पर अपना कोई निर्णय नही दिया है । इसी प्रकार गुप्तो के आदि राज्य के प्रश्न पर गोयल ने अपने इस सुझाव की पुष्टि मे पर्याप्त सबल प्रमाण दिए हैं कि गुप्त वश का उदय पूर्वी उत्तर प्रदेश मे हुआ था और उनकी शक्ति का आदि केन्द्र प्रयाग था । अपनी इस मान्यता के समर्थन मे उन्होने तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक घटको की भी बडी रोचक व्याख्या की है । उनके इस सुझाव की तर्कसम्मतता अब शनै शनै स्वीकृत की जाने लगी है (दे० जर्नल ऑव एन्शयेन्ट इण्डियन हिस्ट्री ५, कलकत्ता, पृ० ११२)। इसी से सम्बन्धित उनका यह सुझाव भी कि गुप्तो की राजधानी पाटलीपुत्र न होकर प्रयाग नगर था (पृ० २१० अ०) निश्चय ही विचारणीय है । इसके विपरीत पी० एल० गुप्त (पृ० १०१) व उ० ना० राय दोनो इस विषय मे इस परम्परागत मत के अनुयायी हैं कि गुप्त का आदि राज्य मगध मे था और उनकी राजधानी थी पाटलिपुत्र ।

गुप्त वश मे प्रथम दो नरेशो के उपरान्त शासन किया प्रथम चन्द्रगुप्त ने । राय (पृ० ७३ अ०) एव गुप्त (पृ० २३६, टि० १) ने उसे गुप्त मुद्रा प्रवर्तक माना है । जबकि गोयल ने चन्द्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार की मुद्राओ को प्रचलित करने का श्रेय समुद्रगुप्त को दिया है (पृ० ११५ अ०)। लेकिन एलन के विपरीत गोयल (अध्याय २, परिशिष्ट ३) ने यह माना है कि ये सिक्के समुद्रगुप्त ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ मे जारी किए थे । प्रथम चन्द्रगुप्त ने गुप्त सवत् का प्रवर्त्तन किया था । इस परम्परागत मत का अनुसरण राय ने किया है (पृ० ८१) जबकि गोयल ने पी० एल० गुप्त के इस पुराने सुझाव को स्वीकार किया है कि इस सवत् का प्रवर्त्तक द्वितीय चन्द्रगुप्त था यद्यपि इसकी गणना की गई प्रथम चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से । लेकिन गोयल ने इसके साथ ही यह भी लगभग सिद्ध कर दिया है कि समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक लगभग ३५० ई० मे हुआ और द्वितीय चन्द्रगुप्त का जन्म लगभग ३३५ ई० मे ।

इस आधार पर उन्होने प्रारम्भिक गुप्त तिथिक्रम की एक सर्वथा नवीन तालिका प्रस्तुत की है (अध्याय २, परिशिष्ट १)।

प्रथम चन्द्रगुप्त के उपरान्त समुद्रगुप्त को अपने काच आदि प्रतिस्पर्द्धी भाइयो के विद्रोह का सामना करना पडा। इस विषय मे गोयल गुप्त व राय तीनो लगभग एकमत हैं। समुद्रगुप्त की दिग्विजय के सम्वन्ध मे सबसे विवादग्रस्त समस्याओ मे एक है रुद्रदेव की पहिचान। गुप्त (पृ० २५९) व राय (पृ० १०८) उसकी पहिचान कौशाम्बी नरेश रुद्र से करते हैं जबकि गोयल (पृ० १४१ अ०) उसे प्रथम रुद्रसेन वाकाटक मानते हैं तथा जायसवाल के इस पुराने सुझाव के समर्थन मे नए तर्क देते हैं। गोयल ने समुद्रगुप्त की दिग्विजय का अध्ययन करते समय गुप्त राजनीति पर भूराजनीति–धर्म (पृ० १३५ अ०) का प्रभाव भी दिखाया है। उन्होने 'दौहित्र' शब्द की पाठक के द्वारा प्रदत्त व्याख्या से तर्कसम्मत निष्कर्ष निकाल कर प्रारम्भिक गुप्त युग मे नाग-वाकाटक साम्राज्यो के विलय की योजना की सम्भावना भी मानी है (पृ० ८८ अ०) तथा समुद्रगुप्त की बगाल विजय मे आर्थिक घटक का प्रभाव दिखाया है। वह यह भी मानते है कि प्रयाग प्रशस्ति मे समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन न तिथिक्रमिक है और न भौगोलिक। उनका कहना है कि यह समुद्रगुप्त द्वारा समय समय पर प्राप्त विजयो का उसके द्वारा अपनाई गई नीतियो के अनुसार वर्णन है। इसलिए वह यह असम्भव मानते हैं कि समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ अभियान अथवा प्रत्यागमन का मार्ग जाना जा सकता है। उनका सुझाव है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर कई आक्रमण किए होगे और उसके आक्रमणो का उद्देश्य दक्षिणी राज्यो की सम्पदा लूटना रहा होगा। उसके एक आक्रमण की तिथि उन्होंने सिंहली साक्ष्य के आधार पर ३५८-९ ई० निर्धारित की है। उनके ये सुझाव अत्यन्त रोचक और सर्वथा नवीन हैं। काश की श्री राय व गुप्त जो गोयल के ग्रन्थो से परिचित होते और इन सुझावो पर अपने विचार प्रकट करते। इसकी बजाय वे इन समस्याओ पर परम्परागत रूप से सोचते रह गए हैं।

समुद्रगुप्त के ऊपर गोयल द्वारा लिखित अध्याय का वह अश सबसे अधिक रोचक है जिसमे उन्होने उसकी पश्चिमोत्तर सीमानीति का विश्लेषण किया है। उन्होने तत्कालीन बैक्ट्रिया व पश्चिमोत्तर भारत के मार्टिन द्वारा प्रस्तावित इतिहास को प्रयाग-प्रशस्ति के साक्ष्य से जोडा हैं और निष्कर्ष निकाला है कि प्रयाग प्रशस्ति का दैवपुत्र षाहि किदारकुषाण था तथा षाहानुषाहि ईरानी सम्राट्। उनका सुझाव है कि किदार कुषाण ने समुद्रगुप्त की सहायता से ईरानी सम्राट् को परास्त किया होगा। राय भी इस मत से सहमत लगते हैं (पृ० १३५)। इसके विपरीत पी० एल० गुप्त अपने को इस विषय मे प्रतिपादित विविध मतो के भवर से नही निकाल पाए हैं। वह इनके 'पचडे मे पडे बिना' (पृ० २७१) केवल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये राजा अफगानिस्तान और उसके आसपास के शक कुषाण नरेश थे।

गोयल का यह सुविदित सुझाव है कि मेहरौली अभिलेख का 'चन्द्र' समुद्रगुप्त से अभिन्न था (पृ० २०१ अ०)। अपनी पुस्तक एन्शयेण्ट इण्डिया के नए संस्करण मे डा० र० च० मजूमदार ने इस सुझाव को 'युक्तियुक्त' बताया है। राय व गुप्त गोयल के इस सुझाव से अपना अपरिचय प्रकट करते हैं और प्राय इस स्वीकृत मत को मानते हैं कि इस चन्द्र की पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त से की जानी चाहिए। क्योंकि गोयल का मत नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९६४, प्रोसीडिंग्स ऑव ओरियण्टल कान्फ्रेंस गौहाटी अधिवेशन एवं उनकी दो प्रस्तुत पुस्तकों १९६७ व १९६९ मे प्रकाशित होने के कारण पिछले आठ नौ वर्षों मे चर्चा का विषय बना हुआ है फिर राय और गुप्त के ग्रन्थों में इसका अनुल्लेख आश्चर्यजनक है।

समुद्रगुप्त के उपरान्त शासन किया रामगुप्त व द्वितीय चन्द्रगुप्त ने। रामगुप्त की ऐतिहासिकता गोयल, गुप्त व राय तीनों ने मानी है। लेकिन गुप्त व राय इस विषय मे केवल इस समस्या पर विचार करते है कि रामगुप्त का अस्तित्व सिद्ध करने वाले साक्ष्य विश्वसनीय हैं या नही जबकि गोयल ने इस ओर भी ध्यान दिया है कि रामगुप्त का अस्तित्व बताने वाले साहित्यिक व पुरातात्विक प्रमाणों मे विरोध क्यों है। इस समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने विशाख द्वारा अपने इतिवृत्तात्मक नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् में प्रयुक्त साहित्यिक प्रतीकों का विश्लेषण किया है। उनका निष्कर्ष साहित्यिक व पुरातात्विक साक्ष्य के पारस्परिक विरोध को दूर करने मे निश्चय ही बहुत सहायता देता है। जहां तक द्वितीय चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध है, पी एल गुप्त इस सर्वसम्मत मान्यता को अस्वीकार करते हैं कि इस गुप्त सम्राट् ने मालवा, सौराष्ट्र अथवा गुजरात पर विजय प्राप्त करके शकों को उन्मूलित किया था (पृ २९०-२)। लेकिन इस मत का समर्थन करते समय वह मौद्रिक साक्ष्य को तो नजरन्दाज कर देते हैं और उदयगिरि अभिलेख के साक्ष्य को यह कहकर अस्वीकार कर देते है कि "सम्भव है वीरसेन उस प्रदेश मे उस समय गया हो जब चन्द्रगुप्त अपनी बेटी से मिलने गया रहा हो" पृ २९२। उनका यह कथन एकदम अस्वीकार्य है क्योंकि यह लेख स्पष्टत घोषित करता है कि वीरसेन वहां उस समय गया था जब उसका स्वामी पृथिवी विजय करने के लिए निकला हुआ था। गोयल और राय ने चन्द्रगुप्त को शकारि माना है। लेकिन गोयल ने इस तथ्य को स्थापित करने के लिए भी बहुत सुदृढ़ प्रमाण दिए हैं कि द्वितीय चन्द्रगुप्त ने वाकाटकों से विवाह-सन्धि शक अभियान को दृष्टि मे रखते हुए नियोजित नही की थी। वह चन्द्रगुप्त को उतना महान् नरेश मानने के लिए भी प्रस्तुत नही है जितना उसे प्राय बताया जाता है। अपनी हिन्दी पुस्तक मे तो वह उसकी तुलना जहांगीर से करते हैं। उनका कहना है कि चन्द्रगुप्त ने अपने पिता की दिग्विजय नीति को जारी नही रखा और अपने शासन के करीब चालीस वर्षों मे केवल शकों को परास्त किया जबकि वह अपनी शक्ति और साधनों का उपयोग सिन्धु की उपत्यका को जीतने मे कर सकता था।

प्रथम कुमारगुप्त का शासनकाल अपेक्षतया शान्ति का काल था। उसके भाई गोविन्दगुप्त का गुप्त इतिहास मे स्थान अनिश्चित है। पी एल॰ गुप्त के अनुसार गोविन्दगुप्त ने एक सम्राट् के रूप मे भी शासन किया (पृ २६० अ), राय के अनुसार वह केवल राज्यपाल रहा (पृ २४३) तथा गोयल के अनुसार उसका सही पद अभी निश्चित रूप से जाना नही जा सकता (पृ० २५३ अ०)। प्रथम कुमारगुप्त के द्वारा वाकाटक राज्य पर आक्रमण गोयल का अपना सुझाव है। (पृ० २५६ अ०)। इसमे दक्षिण भारत के तत्कालीन इतिहास पर नया प्रकाश मिलता है।

प्रथम कुमारगुप्त के उपरान्त शासन किया स्कन्दगुप्त ने। अपनी हिन्दी पुस्तक मे गोयल ने यह सतर्क प्रमाणित किया है कि स्कन्दगुप्त के समस्त ज्ञात युद्ध ४५५ ई तक लडे जा चुके थे (पृ० १६४ अ०)। वह यह भी मानते हैं कि स्कन्दगुप्त को अपने भाइयो के विद्रोह का तो सामना करना पडा था परन्तु वह अपने पिता का विधि सम्मत उत्तराधिकारी भी था। इसके विपरीत राय महोदय उत्तराधिकार के युद्ध की सम्भावना नही मानते (पृ २६४) और पी एल गुप्त इस युद्ध का कारण स्कन्दगुप्त की माता का शूद्र जातीया होना बताते है(पृ० ३१० अ०)। पुष्यमित्रो के विषय मे गोयल का सुझाव है कि उनका राजा मेकला का पाण्डव राजा भरतबल था और उसे नरेन्द्र-सेन वाकाटक की सहायता प्राप्त थी (पृ २७३ अ)। उनका यह सुझाव आभिलेखिक साक्ष्य पर निर्भर है और सही प्रतीत होता है। स्कन्दगुप्त के काल मे हुए हूण आक्र-मण का अध्ययन गोयल ने भू-राजनीतिक पृष्ठ-भूमि मे किया है। यह दृष्टिकोण राय व गुप्त की पुस्तको मे अज्ञात है।

स्कन्दगुप्त के उपरान्त गुप्त साम्राज्य अवनतिशील हुआ। गोयल ने बौद्ध धर्म का हानिकर प्रभाव, सामन्तवादी प्रवृत्ति मे वृद्धि, ब्राह्मण सामन्तो के उदय, उच्च पदो का दायागत होना आदि घटको की पृष्ठभूमि मे इस समस्या का विवेचन किया है (पृ २६०-३)। राय व गुप्त इन घटको पर विचार नहीं करते। जहाँ तक स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियो के अनुक्रम व तिथिक्रम की समस्या है गोयल ने सभी प्रचलित मतो की विस्तरशः मीमासा की है। उन्होने ध्यान दिलाया है कि गुप्त वश मे केवल दो कुमारगुप्त क्रमादित्य ही नही दो नरसिंहगुप्त बालादित्य भी हुए। प्रथम नरसिंहगुप्त बालादित्य बुधगुप्त का पूर्वगामी था और दूसरा नरसिंह बालादित्य प्रकाशादित्य का उत्तराधिकारी जिसने भानुगुप्त के बाद शासन किया। अपने इस मत के समर्थन मे उन्होने अत्यन्त ठोस प्रमाण दिये हैं। उनके ये सुझाव सर्वथा नवीन हैं और स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियो के क्रम की समस्या को करीब करीब पूरी तरह समझा देते है इसके विपरीत गुप्त, व राय मुकर्जी आदि प्राचीनतर लेखको का अनु-सरण करते हुए एक ही बालादित्य का अस्तित्व मानते हैं। अगर उन्होने गोयल के ग्रन्थो व शोध निबन्धो को पढा होता तो इस विषय मे उनके विचार ज्ञात हो पाते।

यह आश्चर्य का विषय है कि गुप्त और राय के वृहदाकार ग्रथो मे जो गोयल के ग्रथो के प्रकाशन के बाद प्रकाशित हुए, गोयल के ग्रथो का नामोल्लेख

तक नही किया गया है। डा० गुप्त के ग्रन्थ मे कई स्थानो पर नए सुझाव दिए गए हैं लेकिन वहां भी उनके प्रतिपादको का नाम नही दिया गया है। उदाहरणार्थ पी एल गुप्त अपने ग्रथ मे (पृ १०१–३) गुप्त साम्राज्य के विस्तार के विषय मे पौराणिक साक्ष्य का विश्लेषण कर निष्कर्ष निकालते हैं कि इन ग्रन्थो मे उल्लिखित देवरक्षित, महेन्द्र व गुह की पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त महेद्रादित्य व स्कन्दगुप्त से की जानी चाहिए। परन्तु यह तादात्म्य डा॰ दशरथ शर्मा पहले ही स्थापित कर चुके हैं (इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली अक ३०)। इसी प्रकार यह सुझाव कि कुमारदेवी अपने पिता की उत्तराधिकारिणी नही हो सकती थी तथा लिच्छवी राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी कुमारदेवी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र समुद्रगुप्त रहा होगा, 'दौहित्र' शब्द की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम डा वि श पाठक ने रखा था (जर्नल आव न्यूमेसिमेटिक सोसायटी, १६, पृ १३५)। गोयल ने भी पाठक के मत का उल्लेख करके उनका अनुसरण किया है। पी एन गुप्त भी इस सुझाव को मानते हैं। परन्तु न वह पाठक का उल्लेख करते हैं और न गोयल का (पृ २३८)। तीसरे समुद्रगुप्त के द्वारा सम्पादित अश्वमेध के लिये चिरोत्सन्न शब्द का सही अर्थ 'विस्तृत विधानवाला' है, यह सुझाव जगन्नाथ (एस्सेज प्रिजेन्टिड टू सर जदुनाथ सरकार, २. पृ १० अ), पाठक (पूर्वो १६, पृ १४ अ और वी अस मूर्ति जे. यू जी, १२, पृष्ठ ८१ अ) बहुत पहले रख चुके हैं। गुप्त के ग्रन्थ मे इनमे किसी के भी उल्लेख का अभाव है। जबकि स्वय लेखक ने भूमिका मे शिकायत की है कि उनके सुझावो को किसी विद्वान् ने बिना नामोल्लेख किए अपना लिया है।

कलेवर मे छोटा होते हुए भी गोयल का ग्रन्थ नवीनता लिए हुए है। कुछ शब्दो की अशुद्धिया अवश्य खटती हैं। वैसे छपाई और प्रस्तुति सुन्दर है और उसी के अनुरूप मूल्य भी। कुल मिलाकर शोध कर्त्ताओ के लिए यह नया मार्ग प्रस्तुत करता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

# राजस्थान में सभ्यता का प्रारम्भ[1]

एच डी साँकलिया

राजस्थान पुरातत्त्व अवशेषो की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। प्रस्तुत लेखो मे लेखक का उद्देश्य राजस्थान के पुरातात्त्विक अवशेषो के तिथिक्रमिक विवरण के स्थान पर पिछले सौ वर्षों मे उपलब्ध सामग्री के आधार पर राजस्थान के रगमच पर मनुष्य के प्रथम अवतरण और तत्कालीन परिवेश के पुनर्निर्माण का प्रयास है। निबन्ध-माला का प्रारम्भ पुरातत्त्व की परिभाषा और उसके विकास के विवरण से हुआ है। अब पुरातत्त्व इतिहास विषय की शाखा मात्र नही रहा, उसकी गणना ऐसे विज्ञान के रूप मे होती है जिसके द्वारा मानव के अतीत का पुनर्निर्माण किया जा सकता है।

राजस्थान के अतीत विषयक हमारे ज्ञान मे क्रमश वृद्धि हुई है। १८६१ ई० से लेकर १९३८–३९ ई० तक हमारा ज्ञान ऐतिहासिक युग (लगभग ३०० ई० पू०) तक सीमित था। १९३८ ई० से १९५३ ई० तक किए गए अन्वेषणो से राजस्थान का पुरा-ऐतिहासिक युग (ल० २५०० ई०पू० से ३०० ई० पू०) प्रकाश मे आया। उसके बाद १९६९ तक के कार्यों से राजस्थान के प्रागैतिहास (१००००० ई० पू० से ल० २५०० ई० पू०) की रूपरेखा स्पष्ट हुई।

सर्वप्रथम कनिंघम और उसके सहयोगियो ने ऐतिहासिक युगीन अवशेषो की खोज का महत्त्वपूर्ण प्रारम्भ किया। उनके कार्य को क्रमश कजिन, भण्डारकर और आर० डी० बनर्जी ने आगे बढाया लेकिन यह खोज राजस्थान के कुछ भागो तक ही सीमित रही। उस समय जयपुर राज्य में सुव्यवस्थित सर्वेक्षण, साभर तथा रेढ मे उत्खनन, का श्रेय दयाराम साहनी और के० एन० पुरी को है। १९३८ ई० तक सैन्धव सभ्यता प्रकाश में आ चुकी थी। इस सभ्यता का क्षेत्र हडप्पा और मोहनजोदडो तक सीमित नही रहा। मजूमदार तथा स्टीन ने क्रमश सिन्ध और बलूचिस्तान मे पूर्व-सैन्धव और सैन्धवोत्तर सभ्यताओ के अवशेष खोज निकाले। माधोस्वरूप वत्स को काठियावाड मे इस सभ्यता के अवशेष मिले। स्टीन का विचार

---

१ प्रस्तुत सक्षेप एच० डी० साँकलिया द्वारा धारावाहिक रूप से लिखित तीन लम्बे लेखो का है। ये लेख हेरास इस्टिट्यूट ऑव इन्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर से प्रकाशित इण्डिका के तीन अको मे (वाल्यूम ८, न० १, न० २ तथा वाल्यूम ९, न० १) 'बर्थ ऑफ सिविलिजेशन इन राजस्थान' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे। मूलत ये लेखक द्वारा दिए गए भाषणो पर आधारित हैं।

था कि राजस्थान मे भी सैन्धव सभ्यता के अवशेष मिलने चाहिए क्योकि यह प्रदेश सिन्ध और सौराष्ट्र से जुडा हुआ है। फलस्वरूप स्टीन ने और उसके बाद ए० घोष ने सरस्वती और दृपद्वती की शुष्क तलहटी मे अनेक सैन्धव और सैन्धवोत्तर स्थल खोज निकाले। दुर्भाग्यवश अभी भी स्टीन और घोष के सर्वेक्षण का विवरण प्रकाशित नही हुआ है। लेकिन इन खोजो से एक के बाद एक राजस्थान के अतीत के पृष्ठ उलटते चले गए।

यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि राजस्थान के सभी भागो का अतीत एक समान नहीं है। उत्तरी राजस्थान मे कालीबगा के उत्खनन मे सैन्धव और प्राक् सैन्धव सभ्यता के अवशेष मिलने से यह प्रदेश प्राचीनता की दृष्टि से पजाब और सिन्ध की शृखला मे आगया। उदयपुर के पास आहाड के उत्खनन से भी यह सिद्ध हो गया कि पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी राजस्थान का क्षेत्र भी सभ्यता की दृष्टि से पर्याप्त प्राचीन है परन्तु उतना प्राचीन नही जितना उत्तरी राजस्थान। वी० एन मिश्र ने इसके विस्तार पर प्रकाश डालते हुए अपने प्रयास से तथा भारतीय सर्वेक्षण और पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्नो से यह स्पष्ट किया कि आहाड सस्कृति उदयपुर क्षेत्र तक ही सीमित नही थी वरन् वह बनास की सहायक नदियो केकिनारे चित्तौड तथा भीलवाडा तक फैली थी। गिलुण्ड मे यह कुछ परिवर्तित रूप मे विद्यमान मिली। दूसरी ओर यह विचार बल पकडता गया कि राजस्थान एक प्रकार से उत्तरी गुजरात और मालवा के क्रम मे है और इन प्रदेशो का अतीत पर्याप्त प्राचीन है तो क्या दक्षिण-पूर्वी और पूर्वी राजस्थान उतना प्राचीन नही होगा ? १९५५ ई० मे नाथद्वारा से प्राचीन मनुष्य की उपस्थिति के सकेत मिले। इन्ही को आधार मान कर चित्तौड, बनास तथा गम्भीरी नदियो की घाटियो का सर्वेक्षण किया गया जिसमे पर्याप्त सफलता मिली। पश्चिमी राजस्थान के अतीत पर प्रकाश डालने के लिए मिश्र ने लूनी घाटी का सर्वेक्षण किया जिससे ज्ञात हुआ कि यह स्थान ४०,००० वर्ष पूर्व मनुष्य को ज्ञात था। इन अन्वेषणो से इतना स्पष्ट हो गया कि मनुष्य के प्रादुर्भाव की दृष्टि से राजस्थान की प्राचीनता असदिग्ध है परन्तु इन प्रदेश के विभिन्न भागो- दक्षिणी, पश्चिमी, उत्तरी, दक्षिण-पूर्वी तथा पूर्वी मे सभ्यता का विकास पृथक्-पृथक् रूप मे हुआ और इस विभिन्नता मे भौगोलिक परिवेश का बहुत बडा हाथ था।

अरावली पर्वत माला से राजस्थान का पृथक् व्यक्तित्व बना। इसी के कारण उत्तर से, तथा पश्चिम से, दक्षिण और पूर्व की ओर मनुष्यो एव विचारो के आदान-प्रदान मे बाधा पडी। इसी तथ्य मे आहाड सस्कृति की दीर्घकालीनता और विशिष्टता का रहस्य छुपा हुआ है। इसी प्रकार सभ्यता के उप काल मे हमे प्रारम्भिक मनुष्य बनास, बराच तथा गम्भीरी नदियो के किनारे दिखाई देता है। इसका भी भौगोलिक कारण है—क्योकि यहा पर ही उसे उपकरण बनाने के लिए क्वार्टजाइट के पेबल मिलते थे। पश्चिमी और उत्तरी राजस्थान के अधिकाश पर भौगोलिक प्रभाव का रूप दूसरा था। यहा की भूमि पर ४०,००० वर्ष पूर्व समुद्र हिलोरे लेता था। किसी

समय समुद्र के खिसकने पर शुष्क भूमि पर लूनी नदी प्रवाहित हुई इसलिए यहा पत्थरो का अधिक जमाव नही मिलता । दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे यद्यपि अरावली पर्वत सबसे बडी बाधा था जहा घाटो के माध्यम से ही आवागमन सम्भव हो सकता था । परन्तु उत्तर-पूर्व की ओर से यह भाग खुला हुआ है जहा वराच, वनास, गम्भीरी नदिया चम्वल से मिलती हैं जो मुड कर स्वय यमुना से मिल जाती हैं । यहा पर मनुष्य को अनेक सुविधाए प्राप्त हुई । उर्वर प्रदेश, शीष्ट पत्थर और ताम्र सभी कुछ तो यहा था । सम्यता के विकास मे मनुष्य ने इन सभी साधनो का लाभ उठाया । इसके विपरीत उत्तर-पश्चिमी राजस्थान की स्थिति दूसरी है । यह खुला प्रदेश है, बाधाए कम हैं । जो भी है उनमे सबसे बडी बाधा है दूर तक फैला हुआ सूखा रेगिस्तान । इस प्रदेश मे मनुष्य ने पर्याप्त सघर्ष किया । प्राय विश्वास किया जाता है कि राजस्थान की सस्कृति पर बलूचिस्तान, ईरान, पश्चिमी तथा मध्य एशियाई सस्कृतियो का प्रभाव पडा । इस प्रभाव का कारण भी भौगोलिक हो सकता है । परन्तु विदेशी प्रभाव के सन्दर्भ मे भीलो और अन्य आदिवासियो की सस्कृति के योगदान पर भी विचार किया जाना चाहिए ।

पुरातत्त्व भूगर्भशास्त्र से घनिष्ट रूप से सम्वद्ध है । यह वात राजस्थान के सन्दर्भ मे स्पष्टत देखी जा सकती है । पूर्वी राजस्थान भारत और विश्व के प्राचीनतम भागो मे से एक है । इसकी चट्टानो मे पृथ्वी का सम्पूर्ण इतिहास लिखा है । लेकिन पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी भाग की वात दूसरी है । यहा, जैसलमेर से बलुआ तथा चूना पत्थर की उपलब्धि से स्पष्ट है कि यह भाग कम से कम दो बार समुद्र से आवृत रहा था । समुद्र के लौट जाने पर तेज हवाओ ने कच्छ की रेत से यहा की भूमि को ढक दिया । यही पर रेत मे दवी लूनी की तलहटी मे मनुष्य की उपस्थिति के प्राचीनतम अवशेष मिलते हैं । इस से ऐसा लगता है कि समुद्र के हट जाने पर प्रागैतिहासिक काल मे यहा लूनी प्रवाहित थी । उस समय वर्षा भी काफी होती होगी । इसलिए सम्यता के जन्म के लिए सुविधापूर्ण स्थान था । परन्तु बाद मे यहा की जलवायु अनुकूल न रहने पर (अर्थात् इस प्रदेश के शुष्क हो जाने पर) मनुष्य ने इस स्थान को त्याग दिया । उसके वाद आधुनिक काल के पूर्व यहा से सम्यता के अवशेष नही मिले । पानी की कमी के कारण इस प्रदेश को मरु प्रदेश–मृतको की भूमि–कहा जाता है । इसलिए अब भी यह विवादास्पद विषय है कि क्या सैन्धव अथवा सैन्धवोत्तर सम्यता के अवशेष जैसलमेर-बाडमेर के भाग से मिलेंगे ? दूसरे शब्दो मे पाषाणकालीन युग के बाद का पश्चिमी राजस्थान का पुरातात्त्विक इतिहास क्रमवद्ध नही है ।

भूगर्भीय दृष्टि से उत्तर-पूर्वी तथा उत्तरी राजस्थान एक प्रकार से गगाघाटी और मालवा के पठार का ही भाग हैं । गगा की घाटी दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से 'बहुधान्यदायक' मानी जाती है । यहा से भी सर्वेक्षण करने पर प्रारम्भ से लेकर ऐतिहासिक काल तक के अवशेष मिलेंगे ।क्योकि अब तक जो भी छुटपुटसकेत मिले

हैं उनसे प्रारम्भिक मनुष्य से लेकर इतिहास के उप काल तक का विकास संकेतित है। परन्तु दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान से तो निश्चित रूप मे कम से कम एक लाख वर्ष का सांस्कृतिक विकास ज्ञात होता है।

राजस्थान मे मनुष्य की उपस्थिति के सबसे प्राचीन प्रमाण बनास और उसकी सहायक बराच और गम्भीरी नदियो के किनारे प्राप्त होते है। (इस मनुष्य को लेखक ने 'अरावली मानव' कहा है)। लेखक और मिश्र के १०-१५ वर्षों के परिश्रम से उपलब्ध साक्ष्य तथा उनकी अन्य स्थानो से प्राप्त सामग्री से तुलना करने पर दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के आदि (प्रारम्भिक) मानव तथा उसके तत्कालीन परिवेश की विश्वसनीय रूप रेखा निर्मित हुई। अरावली की तलहटी का परिवेश, मनुष्य के आविर्भाव के समय आज से नितान्त भिन्न था। ये पहाड़िया आज मे २०,००० वर्ष पूर्व अपेक्षया ऊंची थी। अभी उत्तर-पूर्वी मैदानो का निर्माण नही हुआ था। पर्वतश्रेणियाँ भी दक्षिण पश्चिम—जोधपुर की ओर तथा पूर्व की ओर इतनी ढालू न थी। दक्षिणी मैदान भी माही नदी द्वारा उतना नही कटा था जितना अब कट गया है। उत्तरी तथा पूर्वी मैदान वस्तुत बनास और दूसरी नदियो की मिट्टी से निर्मित हुए हैं। आज ये नदियां ३०-४० फीट नीचे बहती है। उस समय इनका स्तर क्या था ? ऐसा लगता है कि ये नदिया क्वार्टजाइट, शीस्ट, नेस, ब्लुआश्म तथा अन्य प्रस्तरीय चट्टानो से होकर बहती थी। इन्ही के द्वारा प्रस्तरखण्ड और पेबल बह कर आए जिनका जमाव नाथद्वारा और कांकरोली के रास्ते मे देखा जा सकता है। इन चट्टानो में हजारो वर्षों के दौरान क्वार्टजाइट के अश शेष बचे शेष की बालू बन गई। इसी बालू से कालान्तर मे नदी का प्रवाह कम होने पर उसकी तली भर गई। अर्थात् जलवायु के परिवर्तन से, वर्षा के कम होने से, न तो अब नई चट्टानें बह कर आ सकती थी और न पहले की सामग्री आगे बढ़ सकती थी। इसी परिस्थिति मे यहा मनुष्य का अवतरण हुआ। इस समय उसने अपने आगे और स्फटिकाश्म की चट्टानें तथा पेबल बिखरे देखे। इन्ही से उसने अपने पूर्व अनुभव से या प्रकृति के अनु-से उपकरण बनाए और अपेक्षया कम कठोर पत्थरो को छोड दिया। यह सर्वज्ञात है कि तोड़ने या पीसने मे अण्डाकार चिकना पेबल उपयोगी होता है। लेकिन किसी वस्तु को काटने के लिए टूटे हुए पत्थर की धार उपयोगी सिद्ध हुई होगी। वैसा पत्थर बनाने के लिए एक पत्थर को दूसरे पर मारना होता था। इसका स्वाभाविक परिणाम सभी जानते हैं कि उसके एक भाग से कुछ फलक टूट कर बिखर गए होंगे। इनमे से किसी एक से, मोटे किनारे की तरफ से पकड कर, उसने अपना काटने या छीलने का काम किया। धीरे-धीरे कई हजार वर्ष के अनुभव से उसे गोल पत्थर से इच्छानुसार फलक उतारना आ गया कि किस प्रकार, कहा पर, आघात करने पर किस प्रकार उन्नत शकु से ठीक फलक उतरता है। लेखक को बनास के तट पर इस प्रकार के उन्नत फलक प्राप्त हुए। नर्मदा और साबरमती के तट पर भी इस प्रकार के फलक मिलना इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य ने समान परिस्थितियो मे समान

उपकरण बनाए। लेकिन ऐसा नही है कि अन्त तक मनुष्य ऐसे ही उपकरण बनाता रहा। अनुभव से उसने सीखा होगा कि दोनो ओर से फलक उतारने पर अच्छी धार वाले उपकरण बनते हैं जिससे पेड काटने, हड्डी तोडने या टुकडे करने मे अधिक सुविधा होती है। इस प्रकार के वक्रित धार वाले फलक तथा पेवल अधिकाशत बनास पर नाथद्वारा, हमीरपुर, मण्डपिया, बिगोद, दिग्रोली, बन्थाली, टोक और मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इन्हे 'चॉपर' कहा जा सकता है।

लेकिन मनुष्य विचारशील प्राणी होने के कारण केवल इन दो प्रकार के उपकरणो से सतुष्ट नही हुआ। उसने ऐसे उपकरण बनाए जिनमे दोनो ओर धार के साथ नुकीला हिस्सा भी होता था, उन्हें शिकार मे भाले की तरह काम मे लिया जा सकता था। उदयपुर के आसपास ही नही बल्कि सम्पूर्ण भारत मे, यूरोप, पश्चिमी एशिया और अफ्रिका मे समय के साथ-साथ मनुष्य अधिक सुगढ और तीव्र उपकरण बनाता गया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह पत्थर से पूर्ण कुशलता से उपकरण बनाता था जबकि उन्हे बनाने के लिए उसके पास धातु के हथियार न होकर पत्थर, लकडी या हड्डी का टुकडा होता था। राजस्थान मे ये उपकरण बनास, बराच, गम्भीरी, वेगान, कादमली नदियो पर कम परन्तु चित्तौड और नगरी के पास बहुत सख्या मे मिले हैं। इनसे ऐसा लगता है कि राजस्थान मे चित्तौड का क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल से ही योद्धाओ की भूमि रहा है। यहा पहाडी की तलहटी मे प्रस्तरयुग के मनुष्य बडी सख्या मे रहते थे। स्थान की सुरक्षा, समीपवर्ती वनो से पशु, फल और खाद्य जडें, तथा स्फटिकाश्म के पेवल तत्कालीन मनुष्य के लिए आकर्षण का कारण थे। यद्यपि दक्षिण-पूर्वी राजस्थान से नदी की तलहटियो मे तत्कालीन पशुओ के अवशेष या जीवाश्म नही मिले हैं परन्तु मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के साक्ष्य पर अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय का मनुष्य हाथी, गेंडा, गाय, वृषभ, आदि से परिचित रहा होगा। तत्कालीन वनस्पति के प्रकारो के विषय मे भी उनके जीवाश्म न मिलने तक कहना कठिन है। खजूर और बम्बूल के पूर्वजो के अवशेष भारत मे पूर्व मानवयुगीन चट्टानो से प्राप्त हुए हैं। अनुमान लगाया जा सकता कि तत्कालीन वनो मे खजूर, बम्बूल, पीपल, बड, महुआ तथा नीम के पेड रहे होंगे।

इन साक्ष्य के आधार पर राजस्थान मे पहले मनुष्य के अविर्भाव और उसके परिवेश की कल्पना की जा सकती है—एक लाख वर्ष पूर्व उबड खाबड भूमि मे, चौडी घाटियो से होकर बहती नदी। उसके किनारे गहन वन। बनो मे सिर से सिर मिलाए हुए नीम, बबूल, खजूर, महुआ, पीपल, बड के वृक्ष तथा अनेक प्रकार की लता झाडिया और उनमे विचरते हाथी, गेंडे, चीते, हिरण, नीलगाय, वृषभ, हिप्पोपोटामस तथा अन्य पशु। वनो के समीप पहाडी की तलहटी मे नदी के किनारे विचरते, पशुओ का शिकार करते, सुगढ उपकरण बनाते या फलो और जडो को एकत्र करते मनुष्यो के झुण्ड। सास्कृतिक दृष्टि से अरावली का यह मनुष्य अपने समकालीन गुजरात मे साबरमती, मध्य प्रदेश मे चम्बल और नर्मदा, महाराष्ट्र मे गोदावरी और

कृष्णा, मैसूर मे तुगभद्रा, मद्रास मे कावेरी और कोयलतार, उडीसा मे महानदी पश्चिमी बगाल मे अजय, पजाब मे सोहन तथा कश्मीर मे लीदर की घाटी के मानव से भिन्न नही था। इनके बनाए चॉपर, हेण्डेक्स, क्लीवर, स्क्रेपर और सावधानी से उतारे गए फलक भी लगभग समान है। परन्तु इन उपकरणो को बनाने वाला यह 'अरावली मानव' स्वय कैसा था ? कहाँ से आया ? पजाब या मालवा से, गुजरात से अथवा अफ्रीका से—कुछ भी निश्चित नही है।

अब से लगभग ५०,००० वर्ष पूर्व दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान तथा शेप भारत की जलवायु मे बडा परिवर्तन हुआ। यह लगभग वही समय था जब पश्चिमी राजस्थान से समुद्र के हटने पर भूमि के दर्शन हुए और लूनी नदी ने बहना प्रारम्भ किया। यद्यपि इस जलवायु परिवर्तन का कोई सीधा साक्ष्य नही है परन्तु दक्षिण-पूर्वी राजस्थान की नदियो के तल इस ओर सकेत करते हैं। यहा के प्राचीन स्थल पर एकत्र स्फटिक के पेवल सिल्ट से आच्छादित दिखाई देते है। यह सिल्ट हजारो साल के व्यवधान मे लाल सी हो गई है। जहा यह मिट्टी कट गई है वहा भी हल्के ब्राउन रग की सिल्ट की परत जमी है। यह सिल्ट कैसे एकत्र हुई ? इसकी तीन सम्भावनाए हैं जो जलवायु परिवर्तन की ओर सकेत करती हैं। नदी मे पेवल एकत्र होने के बाद धीरे-धीरे वर्षा कम होती गई और नदी का तल बालू और मिट्टी से भर गया। यह शुष्क काल कितने वर्ष चला कोई नही जानता। इसके बाद पुन जलवायु मे परिवर्तन हुआ—नदियो मे पानी आया। इस बार नदिया बारीक ग्रेवल बहाकर लाई जिसके साथ स्फटिक के पेवलो के स्थान पर छोटे-छोटे फ्लिन्ट, चर्ट जैसे पत्थरो के पेवल आए। दूसरी सम्भावना यह है कि समुद्रतल ऊपर उठा हो और उसी के साथ नदियो का तल भी। या तीसरे भूमि के ऊपर उठ आने से नदिया झील के रूप मे परिवर्तित हो गई हो। कारण एक से अधिक भी हो सकते हैं परन्तु मूल तथ्य यह है कि पेवल सिल्ट की परत से ढक गए थे।

इस परिवर्तन का तत्कालीन मनुष्य के जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा होगा। अब उसे स्फटिक के पत्थर-पेवल मिलने बन्द हो गए। यह उसके अस्तित्व का प्रश्न था। अभी तक उसने स्फटिक से ही उपकरण बनाए थे। अस्तित्व के सघर्ष मे वे ही जीवित रहते हैं जो नई परिस्थितियो मे ढल जाते हैं। पृथ्वी के अस्तित्त्व मे आने के बाद से प्रत्येक क्षेत्र मे यह सघर्ष चल रहा है। स्फटिक लुप्त होने से मनुष्य ने अगेट, फ्लिन्ट, और चर्ट के टुकडो के ढेर खोज निकाले। ये पेवल छोटे थे—पाँच या सात इच से अधिक लम्बे तथा ३-४ इच से ज्यादा चौडे नही थे। पूर्णत प्रकृति पर आश्रित होने के कारण मनुष्य बडे उपकरण नही बना सकता था। वह दूर से स्फटिक के पेवल खोजकर भी लाता तो कैसे ? हाथ मे अधिक से अधिक २-३ आ सकते थे। इसलिए पुराने प्रकार के उपकरण बनाना न तो सुविधापूर्ण था और न क्रियात्मक। मूलत वह अब भी शिकारी था इसलिए उसने इन छोटे उपकरणो को लकडी मे फसा कर भी काम मे लिया होगा अर्थात् पहला बूमरेंग बनाया

होगा। ये उपकरण तीखे, नुकीले और धारदार थे। प्रयोग करने और ढोकर ले जाने मे सुगम। एक बार छोटे उपकरण बनाना प्रारम्भ करके उसने फिर बडी शिला तोड कर भी छोटे ही उपकरण बनाए। इसमे कुछ उपकरण सुई के आकार के हैं। पूर्ण सम्भव है कि इस समय उसने पशु चर्मों को सीकर वस्त्र के रूप मे प्रयोग किया हो क्योकि लूनी की घाटी से मिले उपकरणो मे स्क्रेपर अधिक है जिनसे खालें साफ की जाती होगी और चाकू का काम भी लिया जाता होगा।

भारत मे इस प्रकार के उपकरण पहले नेवासा के स्तरो मे मिले थे। उसके तीन वर्ष बाद मिश्र ने इन्हे लूनी की घाटी मे सोजट के निकट बहुत सख्या मे प्राप्त किया। इस खोज से पश्चिमी राजस्थान भी प्रस्तरयुग के मानचित्र पर आ गया। दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान मे ये उपकरण बगान और काडमली की घाटी से मिले। लेकिन बनास, बराच तथा गम्भीरी के तट से एक भी उपकरण नही मिला। यहा से तथा उत्तरी गुजरात के सलग्न प्रदेशो से द्वितीय प्रस्तर युग के इन उपकरणो की कमी से इस सस्कृति के उद्भव और प्रसार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं—विशेष रूप से इस सन्दर्भ मे जबकि पश्चिमी राजस्थान मे यह बहु-प्रसरित है। दोनो ही प्रदेश अरावली के उत्तरी और दक्षिणी पार्श्व हैं। पहली और द्वितीय प्रस्तर सस्कृतियो मे क्या सम्बन्ध था ? हो सकता है द्वितीय प्रस्तरयुग का मनुष्य पश्चिमी राजस्थान की अपेक्षाकृत नई भूमि मे अव तरित हुआ और बाद मे अरावली को पार कर दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे प्रवेश कर गया हो। दूसरी सम्भावना के रूप मे कहा जा सकता है कि प्रथम प्रस्तर युग के 'अरावली मानव' ने दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे आवश्यक प्रस्तर सामग्री के अभाव पश्चिमी राजस्थान मे प्रवेश कर गया हो जहा उसे उपकरण बनाने के लिए नए प्रकार के प्रस्तर खण्ड मिले। या फिर द्वितीय प्रस्तर युग का मनुष्य जो कोमल पत्थरो से उपकरण बनाने मे कुशल था ईराक, ईरान, पेलेस्टाइन या पश्चिमी यूरोप से सिन्ध पार करके राजस्थान मे प्रविष्ट हुआ। लेखक इनमे अन्तिम सम्भावना के पक्ष मे है। लूनी से प्राप्त उपकरणो की बनावट मे उसे पश्चिम एशियाई सस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है। मिश्र ने लूनी से इन उपकरणो मे बोरर, प्वाइन्ट, स्क्रेपर तथा नाइफ के आकार के फलक एकत्र किए थे। इनमे जिस प्रकार स्क्रेपर और पोइन्ट बनाए गए थे या जिस प्रकार योजनाबद्ध फलक उतारे गए थे वे लेवालुआजियन पद्धति का स्मरण दिलाते है। विशेष बात यह है कि लूनी से वे कोर उपकरण भी मिले हैं जिन से यह फ्लेक उतारे गए हैं। यूरोप और पश्चिमी एशिया मे ऐसे स्क्रेपर, पोइन्ट तथा फ्लेक मुस्टेरियन उद्योग मे या नियण्डरथल मानव द्वारा बनाए गए हैं। हो सकता एक दिन इस मनुष्य के अवशेष राजस्थान से भी प्राप्त हो।

१९५४-५५ मे जब इन उपकरणो को नेवासा से और बाद मे लूनी से प्राप्त किया गया, तब तक इनका सम्बन्ध यूरोपीय उद्योगो से नही जोडा गया था। क्योकि भारत और यूरोप के बीच के भाग—पाकिस्तान, अफगानिस्तान तथा सोवियत मध्य-एशिया से मुस्टेरियन सस्कृति के अवशेष नही मिले थे। लेकिन दस वर्षों के भीतर

इन प्रदेशो मे प्राय सभी स्थानो से इस प्रकार के साक्ष्य प्राप्त हो चुके हैं जिनके आधार पर राजस्थान के द्वितीय प्रस्तर युग–मध्यपाषाण काल–का यूरोप से मध्य-एशिया के द्वारा सम्बन्ध जोडे जाने की सम्भावना वलवती हो गई है। यहा यह भी स्मरणीय है कि इस सस्कृति की तुलना प्रकार और स्तरीय दृष्टि से गुजरात, सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, प० वगाल, आन्ध्र, मद्रास, मैसूर तथा पजाब की समान सस्कृतियो से की जा सकती है। महाराष्ट्र के साक्ष्य पर इसकी तिथि ३०,००० से ३५,००० ई० पू० रखी जा सकती है जो मुस्टेरियन सस्कृति के समय के बहुत निकट है। अत मनुष्य के विकास और सास्कृतिक आदान–प्रदान मे पश्चिमी राजस्थान की विशिष्ट भूमिका रही है।

वर्तमान साक्ष्य के प्रकाश मे यह कहा जा सकता है अब से लगभग ४०,००० वर्ष पूर्व उपकरणो की दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी राजस्थान के जीवन मे विशेष अन्तर नही था सिवाय इसके कि उपकरण वनाने के लिए अलग-अलग प्रकार के पत्थरो का प्रयोग किया गया है। लेकिन दूसरी ओर दोनो स्थानो का परिवेश नितान्त भिन्न था द० पूर्वी राजस्थान मे उदयपुर के आसपास का प्रदेश पहाडियो से घिरा हुआ था नदियो के पाट सुकडते जा रहे थे, किनारो की ऊँचाई वढ रही थी और पत्थरो पर मिट्टी जम गई थी। सीमावर्ती वन प्रान्तो मे विशेष परिवर्तन नही आया था। इसके विपरीत पश्चिमी राजस्थान मे लूनी और सहायक नदियो मे पर्याप्त पानी था। लगातार वर्षा से प्रदेश हरा भरा था, अकाल नही पडता था। इसलिए सोजक जैसा प्रदेश जहा पानी, वनस्पति, तथा पत्थर सुलभ थे शीघ्र ही मनुष्य की क्रीडा-स्थली वन गया हो तो आश्चर्य नही है। लेकिन यह द्वितीय प्रस्तर युग का मनुष्य यहा कितने समय रहा–२५,००० या ३०,००० वर्ष—निश्चित नही है क्योकि यहा पर मनुष्य की इसके बाद की अवस्था के साक्ष्य नही मिलते। यह आश्चर्य की वात है कि इसके वाद उत्तरी राजस्थान मे यकायक सरस्वती की घाटी मे पूर्ण विकसित नागरिक सभ्यता के दर्शन होते हैं तो दक्षिणी राजस्थान मे बनास तथा अन्य नदियो पर ताम्रयुगीन ग्रामीण आहाडीय सस्कृति का प्रादुर्भाव होता है। द्वितीय प्रस्तर युग और इन नागरीय और ग्रामीण सस्कृतियो के बीच की कडी कहा हैं ? आहाड, गिलुण्ड और कालीवगा मे ये 'रेडीमेड' सस्कृतिया कहा से अवतरित हुई ?

विश्व के दूसरे भागो के समान भारत मे भी स्वय राजस्थान के पडौस मे उत्तरी गुजरात से एक और प्रस्तर युग के अवशेष मिलते हैं। इस युग की विशेपता इस समय वने लघु प्रस्तर उपकरणो मे निहित है। छोटे होने के कारण इन्हे 'माइ-क्रोलिथ' कहा गया। ये उपकरण मानव इतिहास में विशेष तकनीकी विकास के द्योतक हैं। इस समय राजस्थान के कुछ भाग को छोडकर पजाव, पश्चिमी मध्य प्रदेश और उत्तरी गुजरात मे जलवायु मे फिर से परिवर्तन आया। सारा भाग सूखे की चपेट मे आ गया। पजाव मे इस समय धूल के तूफान चलते थे। कच्छ तथा नदी घाटियो से वालू उडकर मैदानो और राजस्थान के पहाडी भागो मे जमा हो

गई। उत्तरी गुजरात मे तरगा पहाडियो मे वडौदा तक वालू फैल गया। नदी के तल भी वालू और सिल्ट से ढक गए। मैदानो मे वालू के टीले वन गए जो वनते विगडते रहते थे। उत्तरी गुजरात मे लघनाज के उत्खनन से पता चलता है कि इस प्रदेश मे कई सौ फीट सिल्ट जमा हुई थी। फिर ५००० वर्ष पूर्व कुछ वर्षा होने लगी जिसका पानी पहाडियो मे इकट्ठा होकर कुछ स्थानो पर झीलें वन गई। इन्ही झीलो के आसपास मनुष्य रहने लगा जिसने लघु पाषाण उपकरण वनाए। पशुओ मे अव भी वह गेंडे तक का शिकार करता था। अव भी पश्चिमी राजस्थान की स्थिति लगभग ऐसी ही है। यहा पर भी उत्तरी गुजरात से मिलती-जुलती सास्कृतिक अवस्था के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है वशर्ते यहा से लघु उपकरण मिलें। १९५८ तक एक भी उपकरण नही मिला था।

१९५९-६० ई० मे मिश्रा को सोजत से ऐसे उपकरण मिले। ये उपकरण कितने प्राचीन है इसके लिए पश्चिमी राजस्थान मे तिलवाडा और पूर्वी राजस्थान मे वैगोर मे उत्खनन किया गया। दोनो ही स्थानो से लघु उपकरण प्राप्त हुए परन्तु प्राचीनता की समस्या फिर भी नही सुलझ पाई। बैगोर और तिलवाडा दोनो ही रेतीले टीले पर स्थित हैं।

तिलवाडा लूनी नदी के वाए किनारे पर वैगोर से १६ कि० मी० दक्षिण पश्चिम मे है। यह नीचे रेतीले टीले पर, नदी के पुराने तल के ऊपर स्थित है। यहा पर अवशेषो का स्तर ६० सें० से ज्यादा मोटा नही है। ज्यादातर अवशेष भूमि से ५० सें० नीचे तक ही केन्द्रित हैं। १४ से० की गहराई मे गोलाकार झोपडी के अवशेष, सिलवट्टा, मिट्टी के पात्र, जली हुई हड्डिया, ठीकरे, तथा लघु उपकरण प्राप्त हुए। झोपडी का फर्श पत्थर का वना है लघु उपकरण स्फटिक तथा रामसेंकाश्म के वन हुए गुजरात से प्राप्त उपकरणो के समकक्ष हैं। यही पर १० से० गहराई मे लोहा और कांच की चूडिया मिली। २५ सें० की गहराई मे लघु उपकरणो की अधिकता है। काच, और लोहा मिलने के कारण इस सस्कृति को प्रस्तरयुगीन सस्कृति नही कहा जा सकता। यदि लौह तथा काच की चूडियो को परवर्ती मान ले तो भी चाक पर वने पात्र, सिलवट्टा, निश्चित आकार का घर, ये सव प्रस्तर युगीन लक्षण नही है।

यही वात वैगोर सस्कृति के विषय मे है। यह स्थान भीलवाडा से २५ कि० मी० पश्चिम मे कोथारी नदी के वाए किनारे पर स्थित है। यहा के अवशेष एक मीटर ६० से० गहराई तक गए हैं। नीचे के स्तरो मे लघुपापाण उपकरण मिलते हैं। ऊपर के स्तर मे लोहा, चाक निर्मित पात्र, ईंटो के टुकडो से वना फर्श तथा वीच के स्तर मे हस्त निर्मित पात्र मिले है। यहा के लघुपाषाण तकनीकी दृष्टि से उच्च कोटि के अद्वितीय हैं। ये छोटे-छोटे पत्थरों से पतले और लम्वे तथा समानान्तर धार वाले फलक निकाल कर वनाए गए हैं। अधिकाश उपकरण ज्यामीतीय आकार के हैं। इस प्रकार के कई उपकरणो को लकडी, हड्डी या मिट्टी की छड मे लगा

कर गोद लगा दिया जाता था। इस सयुक्त उपकरण को दाता या दराती कह सकते हैं।

बंगोर और तिलवाडा का साक्ष्य स्थायी जीवन का है इसे राजस्थान मे सभ्यता के विकास क्रम मे कहा रखा जाय। लघुपापाण उपकरणो के कारण इसे मध्य-पापाण युग के वाद (१०,०००-३००० ई० पू० के बीच) रखना चाहिए लेकिन इनके साथ मिले लौह, चक्रनिर्मित पात्र, काच, तथा पक्की ईंटो के टुकडो के अवशेपो के कारण इस सस्कृति को इतना पीछे नही रखा जा सकता। मिश्र बंगोर के अतीत की सीमा १००० ई० पू० तथा तिलवाडा की ५०० ई० पू० रखते है। लेकिन इससे भी तिथिक्रम ठीक नही बैठता है क्योकि दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे २००० ई० पू० मे ताम्रयुग प्रारम्भ हो जाता है इसके बाद प्रस्तर उपकरणो को कैसे रखा जाय? लेकिन यह भी सत्य है कि बंगोर मे शुद्ध लघुपापाण उद्योग दिखाई देता है। अगर यह उत्तरवर्ती सस्कृति है जो ताम्रयुग मे भी बनास घाटी मे जीवित थी तो इसे निम्न प्रकार की मानना होगा। १२०० ई० पू० मे आहाड के वाद वनास का सास्कृतिक इतिहास वहुत ज्ञात नहीं है। आहाड मे भी लोहे का प्रयोग ३०० ई० पू० मे दिखाई देता है तव तक लघुपापाण उपकरणो का कोई अस्तित्व नही रहता। इसलिए बंगोर सस्कृति को निम्न मानकर चलना चाहिए। अग्रवाल को भी आहाड से कुछ भग्न लघु उपकरण प्राप्त हुए थे। ये क्या तो पहले के लोगो के हैं अथवा वही समीप-वर्ती किसी सस्कृति के जहा अब भी इनका प्रयाग हो रहा था। बंगोर तथा तिडवाडा के लघुपापाण निर्माता कौन थे यह अभी भी प्रश्न ही है। क्या इन्हे भीड, मीणा जैसी आदिवासी जातियो का पूर्वज माना जा सकता है? बंगोर के लोग मृतको को घरो मे दफनाते थे। यह परम्परा प्राचीन है। निष्कर्पत इन दोनो स्थलो के उत्खनन से किसी सभ्यता का चित्र नही वनता। अभी भी ये लोग न तो स्थायी घर वना कर रहते थे, न गाय, भेड, वृपभ जैसे पशु पालते थे, न खेती करते थे और न लिपि से परिचित ही थे अर्थात् इनमे सभ्यता का कोई लक्षण नही था।

राजस्थान मे सभ्य जीवन के प्रथम अवशेप गगानगर जिले मे घग्घर की शुष्क तलहटी मे काली वगा से प्राप्त हुए हैं। यह क्षेत्र—सरस्वती और दृष्द्वती की घाटी—वैदिक ऋपियो का स्थान था। जिस स्थल पर उत्खनन किया गया है गाँव से कुछ दूर घग्घर नदी के किनारे दो टीलो के रूप मे है। ये टीले पास-पास यहा के पाकृतिक दृश्य का अग है। इनके उत्खनन से प्राक् सैंधव और सैन्धव युग के अवशेप प्राप्त हुए। पश्चिमी टीले (KBI) के नीचे के स्तरो से प्राक् सैन्धव अवशेप मिले हैं। इन अवशेपो पर सैन्धव युग के अवशेपो का जमाव है जिन्हे पूरी तरह हटाए विना प्राक् सैन्धव युगीन सभ्यता का ज्ञान विस्तार करना कठिन है। लेकिन ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि राजस्थान की यह सभ्यता, सैन्धव सभ्यता से भिन्न थी।

इस समय घर कच्ची ईंटो (३०×२०×१० से मी) से वनाए जाते थे। ईंटें

प्राय 'इग्लिश बाण्ड' प्रणाली मे लगाई गई हैं। कोनो मे फन्नी के आकार की ईटें प्रयुक्त की गई है। दीवारो पर मिट्टी का पलस्तर किया जाता था। सैन्धव अवशेषो के नीचे दबे होने के कारण मकान की योजना स्पष्ट नही हुई है परन्तु यहा से भूमि के नीचे और ऊपर बनाए गए तन्दूर नुमा चुल्हे मिले हैं। बीकानेर मे आज भी तन्दूर का प्रयोग होता है। रोटी बनाने की यह प्रणाली मूलत पश्चिमी एशियाई (ईरान, ईराक, तुर्की) परम्परा है जो बल्कान तक फैली हुई है। यह तथ्य २५०० ई पू पश्चिमी राजस्थान को पारम्परिक रूप मे ईरान से सम्बद्ध करता प्रतीत होता है।

प्राक् सैन्धव युगीन पूरी बस्ती कच्ची ईटो से बने परकोटो से सुरक्षित थी मूल परकोटा की दीवार की चौडाई लगभग ६ फीट थी परन्तु बाद मे इसे अन्दर की ओर से १० फीट से १२ फीट तक बढाया गया जिसमे ३०×२०×१० से मी आकार की ईटे लगी हैं। उत्तरी और दक्षिणी भुजा के बीच परकोटे की लम्बाई २५० मीटर थी। परवर्ती काल मे परकोटे की दीवार का मोटा किया जाना इस बात का सकेतक है कि पहले रूप मे बस्ती वाले अपने को असुरक्षित अनुभव करते थे। परकोटा कितना ऊचा रहा होगा—यह जानने का कोई साधन नही है। परकोटे के अवशेष सैन्धव सभ्यता के विनाश के कारण पर पुन विचार करने पर विवश करते हैं। आज से ४० वर्ष पूर्व मार्शल का विचार था कि सैन्धव निवासी अहिंसक थे, क्योकि उनके नगर परिवेष्ठित नही थे। परन्तु बाद मे जब व्हीलर ने मोहनजोदडो और हडप्पा मे प्राकार के अवशेषो की पहिचान की तब यह विचार स्थापित किया गया कि सैन्धवो का विनाश आर्यों ने किया (क्योकि इन्द्र को पुरन्दर कहा गया है)। लेकिन कालीबगा और कोटडीजी से प्राक् सैन्धव परकोटे के अवशेप मिलने से यह तो निश्चित हो गया कि सैन्धवो के पूर्व भी यह परम्परा विद्यमान थी इसलिए पुरी का विध्वस करने वाले सैन्धव भी हो सकते हैं। वर्तमान ज्ञान के प्रकाश मे पहियेदार गाडी और धातु उपकरणो के निर्माण के प्रारम्भ का श्रेय भी सैन्धवो को नही दिया जा सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राक् सैन्धव सुक्कर और रोहरी मे फिल्न्ट की खानो तक नही पहुच पाए थे इसलिए उन्होने घरेलू उपकरण स्थानीय पत्थरो–करकेतन (चेल्सडॉनी) बादली (अगेट) तथा यशब (कार्लेनियन) के बनाए हैं। ये उपकरण बैगोर के लघु उपकरणो से भिन्न नही हैं। प्राक् सैन्धवो के द्वारा प्रयुक्त मिट्टी के पात्र भी सैन्धवो से भिन्न है। सैन्धव युगीन पात्र चमकीले, लाल, और अच्छी तरह पकाए गए सुगढ़ पात्र हैं। परन्तु प्राक् सैन्धव पात्र, पतले, गुलाबी रग के और असावधानी से पकाए गए हैं। इनका आकार, बनावट तथा अलकरण भी सैन्धव पात्रो से भिन्न है। इन पात्रो मे एक छोटा पात्र ईरानी गोब्लेट के समान प्रतीत होता है जिसके अवशेष सियाल्क और हिसार से मिले थे। ऐसा पात्र नवदाटोली और माहेश्वर से भी मिला है।

राजस्थानी की इस प्राक् सैंधव सभ्यता का इसके ऊपर से सैन्धव अवशेषो के हटने तक पूर्ण रूप प्रस्तुत करना कठिन है। फिर भी अमरी और कोटडीजी मे इसकी उपस्थिति इसे विस्तार देने मे समर्थ है। यह भारतीय सभ्यता है या इसके तत्त्व बाहर से आए—अभी नियोजित उत्खनन न होने तक—विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी लेखक के विचार मे यहा से प्राप्त पात्र, उन पर बने अलकरण, तन्दूर इन सब मे ईरानी प्रभाव स्पष्ट है। इसलिए इसे अर्द्धभारतीय मानना चाहिए। क्योकि ईरानी प्रभाव के साथ-साथ स्थानीय पत्थरो से बने उपकरण मध्यपाषाणयुगीन परम्परा के विकास के अन्तर्गत समझे जा सकते हैं। यह सभ्यता पूर्ण विकसित थी। दोनो टीलो के बीच तत्कालीन 'जुते हुए खेत' के अवशेष इस दृष्टि महत्त्वपूर्ण हैं।

कालीबगा के इन अवशेषो पर सैन्धव सभ्यता के अवशेष मिले। यद्यपि सरस्वती और दृषद्वती की घाटी मे अनेक सैन्धव स्थल खोज लिए गए हैं परन्तु अभी तक उत्खनन केवल कालीबगा का ही हुआ है। यहा से बी. बी लाल तथा के बी थापर ने समकोण पर काटते मार्गों पर बसा परिवेष्ठित नगर, सैन्धव पात्र, दिन प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाली वस्तुए–आभूषण, ताम्र और कास्य के उपकरण, खिलौने, बटखरे, मुद्राए सभी उत्खनित कर प्राप्त किए। यहा तक कि सैन्धव शवस्थान भी खोज निकाला गया। परन्तु उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया कि इस काल के अवशेषो अधिकाश लक्षण सैन्धव हैं परन्तु कुछ लक्षण ऐसे भी दिखाई दिए जो अभी तक ज्ञात सैन्धव सभ्यता के लिए नए हैं।

इस समय की बस्ती दो भागो मे बटी है—पश्चिम की ओर बना दुर्ग तथा पूर्व की तरफ बसा निचला नगर। ठीक यही योजना हडप्पा और मोहनजोदडो मे भी दिखाई दी थी। दुर्ग ऊँचाई पर है जब कि नगर समतल पर। नगर के पाँच पथ उत्तर–दक्षिणवर्ती तथा तीन पूर्व–पश्चिमवर्ती है जिन से जुडी वीथिया नगर की तालच्छन्दिक निश्चित योजना की परिचायक है। इन पथो और वीथियो मे न तो मकान आगे की ओर निकले हुए है और न मार्गों पर नालिया बनी हैं। इसके अति-रिक्त सम्भवत अधिक यातायात के कारण अथवा सुरक्षा की दृष्टि से सडक के दोनो कोनो पर रक्षा स्तम्भ लगाए गए थे।

घरो की योजना काफी खुली हुई है। प्रत्येक मकान मे आगन और तीन तरफ ६–७ कमरे बने थे। किसी-किसी मकान मे आगन मे कुआ भी मिलता था। एक मकान मे ऊपर की मजिल के लिए सीढिया बनी मिली है। इन मकानो के निर्माण में ३०×१५×७½ से मी आकार की कच्ची इटों का प्रयोग किया गया था। पक्की ईटें केवल नालियो, कुओ और द्वार के नीचे के भाग मे लगी है। मकानो का फर्श प्राय कुट्टी मिट्टी से बनाया गया है। केवल कुछ फर्शों पर कच्ची इटें अथवा मृत्पिण्ड भी लगाए गए हैं। एक मकान का फर्श पक्की मिट्टी के टाइल्स से बना था जिन पर अलकरण के लिए एक दूसरे को काटते वृत बने थे। इस प्रकार के टाइल्स तथा अलंकरण कोटडीजी के बाथ टब मे भी देखा गया था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि यहा के मकान प्राय दो या तीन ओर गलियो मे खुलते थे। साधारणत तलच्छन्द

विन्यास मे केवल कोने का घर ही तीन ओर से वीथियो या पथो पर खुला हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालीबगा का नगर बहुत सघन नही था इसलिए बहुत से घरो मे तीन ओर द्वार दिखाई देते है। यहा यद्यपि सडको पर नालिया नही बनी थी परन्तु घर का पानी खोखले लट्ठो से बनाई गई नालियो द्वारा गली की भूमि मे दबे मृत्भाण्डों से बनाए गए शोषगर्त्तों में गिरता था।

दुर्ग क्षेत्र सैन्धव दुर्गों के समान सम-चतुर्भुज आकार का परकोटे से परिवेष्ठित था। प्राकार का केवल ८०० फीट लम्बा भाग ही अनावृत किया गया था। इस की चौडाई तीन से लेकर सात मीटर तक देखी गई है। दीवार की सुदृढता के लिए थोडे-थोडे अन्तर पर अट्टालक बने थे। दुर्ग-प्राकार के निर्माण में दो प्रकार की ईंटो का प्रयोग हुआ है। पहले ४०×२०×१० से मी. की तथा बाद मे ३०×१५०×७½ से मी आकार की ईंटे लगाई गई। दुर्ग के दक्षिणी भाग मे कच्ची मिट्टी के चबूतरे बने है। इनके बीच मे बना आवागमन का मार्ग इन्हें एक दूसरे से पृथक् करता है। आकार मे सभी चबूतरे एक समान नही हैं। दुर्ग से ये सर्वथा पृथक् प्रतीत होते हैं। चबूतरो के ऊपर चढने के लिए सोपान बने हैं। इन चबूतरो का सम्बन्ध किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानो से था। एक चबूतरे पर आयताकार वेदी मे पक्की ईंटें लगी हैं जिसमे गोजातीय तथा मृग शृग की हड्डिया मिली हैं। इसी कुण्ड के समीप अग्निवेदी तथा एक कुआ भी है। एक अन्य चबूतरे पर एक पक्ति मे सात आयातकार वेदिकाए बनी है। इस प्रकार की वेदिकाए नगर के मकानो मे भी मिली हैं। इन्हें बनाने के लिए पहले आयताकार गड्ढा खोदा जाता था, जिसके बीच आयताकार या बेलनाकार स्तम्भ बनाया जाता था या कभी-कभी ईंटे खडी कर दी जाती थी। इन कुण्डों मे कोयला और पक्के मृत्पिण्ड पाए गए हैं। इस प्रकार के कुण्ड अमरी और लोथल मे भी मिले थे। इनकी उपस्थिति मोहनजोदडो और हडप्पा में भी रही हो असम्भाव्य नही है। ये दुर्ग से पृथक् है इसलिए इन्हे धार्मिक वास्तु के अवशेष मानना चाहिए। राजस्थान मे तीसरी सैन्धव राजधानी के ये महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं। इनके अतिरिक्त उत्खनन मे ऐसी कोई साक्ष्य नही मिला है जिससे सैन्धव धर्म पर नया प्रकाश पडे।

छोटी और सुन्दर वस्तुओ की उपलब्धि समृद्ध जीवन की परिचायक है। इस दृष्टि ने नगर क्षेत्र से प्राप्त सामग्री—दैनिक जीवन मे—खाने, पकाने, छानने और अन्न रखने के काम आने वाले पात्र, विभिन्न आभूषण—काचली मिट्टी, घिया पत्थर, यशब के मनके, मिट्टी और शख के वलय—बाटबटखरे, पौराणिक पशु चित्रो से युक्त विशिष्ट प्रकार की मुद्राए—अद्वितीय और महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कला की दृष्टि से टक्कर लगाते वृषभ की मूर्ति बहुत प्रभावशाली है। एक टेराकोटा फलक (पकी मिट्टी का फलक) पर अकित चित्र वृषभ सिर धारी देवता का है। इस रूप की तुलना हिसार के स्वर्णफलक तथा कोटडीजी के पात्र पर अकित वृषभ सिर से की जा सकती है।

कालीबगा के सैन्धव शाकाहारी भी थे और मासाहारी भी। अनुमान किया जाता है अन्नो मे वे गेहू और जौ ( बार्ली ) का प्रयोग करते थे यद्यपि ऐसे अन्नो के अवशेष नही मिले है। पशुओ मे वे कुकुदमान वृषभ, भैस, सुअर, बारहसिगा, हाथी, ऊट, गधा, गैंडा और चीतल से परिचित थे। यहा से कुवड वाले पशुओ की सर्वाधिक हड्डिया प्राप्त हुई है। पशुओ मे, ऊट से परिचय प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कालीवगा के सैन्धवो का परलोक विश्वास मूल सैन्धवो से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। यहा दुर्ग से ३०० मीटर दक्षिण-पश्चिम मे शवाधान स्थल मिला। इसके उत्खनन से जहा नए प्रकार की शवाधान प्रणालिया प्रकाश मे आई वहा शवो के साथ रखी गई सामग्री तत्कालीन नगर के सामाजिक परिवेश और विश्वासो पर भी प्रकाश डालती है। यहा से तीन प्रकार की शवाधान पद्धतियो के प्रमाण मिले है। इनमे एक तो बहु प्रचलित पद्धति है जिसमे आयताकार गड्ढे मे शव को उत्तर-दक्षिण लिटा दिया जाता था और सिर के आस-पास मिट्टी के पात्र रख दिए जाते थे। कुछ शवो के साथ ताम्र का दर्पण भी रख दिया जाता था। एसे गढो की दीवारें कच्ची मिट्टी की ईंटो से वनी हैं जिन पर मिट्टी का पलास्टर चढ़ा हुआ है। इस प्रकार की रचना मृतक के परिवार की समृद्धि का सकेतक है। दूसरी शवाधान पद्धति मे वृत्ताकार गर्त मे मिट्टी के पात्र मे शव रखा जाता था और उसी के आसपास अन्य छोटे पात्र। ऐसे शवो के साथ २९ वर्तन तक रखे गए है जिनमे ऊँची तश्तरी भी सम्मिलित है और परिवार की आर्थिक अवस्था के द्योतक कुछ आभूपण भी। तीसरी पद्धति मे आयताकार या वृत्ताकार गर्त में रिक्त घट और पात्रो का निक्षेप है। इनमे शव की अनुपस्थिति इनके प्रतीकात्मक रूप की ओर सकेत करता है। सैन्धव सस्कृति के लिए इस प्रकार का प्रतीकात्मक शवाधान नया तत्त्व है। कालीवगा के सैन्धव शल्य क्रिया मे कुशल थे। एक वच्चे के कपाल मे छ छिद्र कपाल-छेदन-क्रिया के ज्ञान को स्पष्ट करते हैं। यह क्रिया ३००० ई० पू० मे यूरोप मे सुविदित थी और विश्वास किया जाता था कि इससे सिर की व्याधिया दूर हो जाती है। लघनाज से भी इस प्रकार का उदाहरण मिला है। इन सव साक्ष्य से सैन्धवकालीन कालीवगा की सस्कृति का काफी सीमा तक स्पष्ट रूप देखा जा सकता है परन्तु प्राक् सैन्धव सस्कृति के उद्भव और उसके देशी और विदेशी सम्वन्धो की समस्या अव भी वनी हुई है।

इन लेखो के लिखे जाने के वाद और प्रकाशन के पूर्व कुछ ऐसे वैज्ञानिक तथ्य प्रकाश मे आए हैं जिनके प्रकाश मे सरस्वती घाटी की प्राक् सैन्धव तथा सैन्धव सभ्यता के उदय और समाप्ति के प्रश्न पर विचार किया जा सकता हैं। ये साक्ष्य दो वैज्ञानिको के हैं—जलवैज्ञानिक राइके तथा जीवभूवृत्त वैज्ञानिक गुरुदीपसिह। राइके ने प्राक् सैन्धव और सैन्धव वस्तियो के अस्तित्व को जलवायु परिवर्तन की पृष्ठभूमि मे देखने का प्रयास किया है। इनके अनुसार दामुना नदी की एक सहायक सिन्धु की ओर प्रवाहित होने से इस क्षेत्र की परिस्थिति परिवर्तित हुई। इस परिवर्तन के पूर्व यह प्रदेश शुष्क था, लेकिन अब नदी के वहने से पहले वबूल जैसे वृक्ष पैदा हुए क्योकि प्रारम्भ

मे नदी मे कम पानी था। वैसे भी वे कुओ के अभाव मे नदी के पानी पर निर्भर थे। इसलिए पूर्व सैन्धवो को ईंधन की कमी अनुभव हुई। २००० ई० पू० मे सैन्धवो ने यहा आकर पुरानी परम्परा मे ही कच्ची ईंटो से ही घर बनाए यद्यपि ईंधन अब अपेक्षया अधिक था। इन्होने कुए भी खोदे। परन्तु लगभग १७५० ई० पू० मे यमुना के पुन पूर्ववर्ती प्रवाह के कारण, घग्घर के सूखने से, यह प्रदेश उजड गया। लगभग ६०० वर्ष पश्चात् पुन यमुना की सहायक नदी की दिशा बदलने से पुन यह क्षेत्र हरा हुआ जिसके फलस्वरूप ल० १००० ई० पू० मे पेन्टिड-ग्रे-पात्र सस्कृति के लोग यहा आकर रहे परन्तु ५०० ई० पू० मे उन्हें भी चले जाना पडा क्योकि यमुना के मार्ग मे पुन पूर्ववर्ती परिवर्तन हुआ। राइके के इस अध्ययन के विपरीत गुरुदीपसिंह का अध्ययन पोलेन पर आधारित था। उन्होने पश्चिमी राजस्थान मे साभर झील, डीडवाना, लुकरनसर से तथा पूर्वी राजस्थान मे कालीबगा से प्राक् सैन्धव स्तरो से मिट्टी के नमूने लेकर पोलेन ग्रेन्स का अध्ययन किया। पोलेन के आधार पर उन्होने जलवायु के चार काल निश्चित किए —

प्रथम काल—प्राक ८००० ई० पू०

द्वितीय काल—पौलेन जोन ए—ल० ८००० ७५०० ई० पू०

तृतीय काल—पोलेन जोन बी—ल० ७५००-३००० ई० पू०

चतुर्थ काल—पोलेन जोन सी—ल० ३०००-१००० ई० पू०

—पोलेन जोन सी के दो उपकाल भी माने गए तथा बी। इन कालो मे सभ्यता के जन्म के लिए उचित परिस्थिति केवल द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ कालो मे थी। दूसरे काल मे राजस्थान मे लगभग दस इच वर्षा होती थी, नदियो मे पानी आता था (यह तथ्य प्रागैतिहासिक भूगर्भीय अध्ययन से मेल खाता है) यद्यपि तीसरे काल मे वर्षा मे कमी हुई परन्तु घास-पात जलने तथा पोलेन के निश्चित साक्ष्य हैं। जो किसी प्रकार की प्रारम्भिक खेती के सकेतक हैं। लेकिन इस तथ्य को प्रमाणित करने के पुरातात्विक साक्ष्य नही हैं यद्यपि इस समय के उत्तर पाषाण कालीन उपकरण-राजस्थान के दोनो भागो से प्राप्त हैं। चतुर्थ काल के प्रारम्भ मे पुन २० इच के लगभग वर्षा होने लगी, जो स्थायी जीवन, पशुपालन और कृषि के लिए सहायक हुई। प्राक् सैन्धव काल के खेत के अवशेष इस युग के पुरातात्विक साक्ष्य हैं यद्यपि इस काल की कालीबगा की कार्बन तिथि २३०० ई० पू० के और पहले नही जाती जबकि दूसरे स्थलो पर इस प्रकार की सभ्यता का प्रारम्भ २६०० ई० पू० में होता है। गुरुदीपसिंह का यह निष्कर्ष मार्शल और स्टीन के उस अनुमान का समर्थन करता प्रतीत होता है जिसमे उन्होने यह सुझाया था कि ३००० ई० पू० मे सिन्ध, राजस्थान और बलुचिस्तान की जलवायु आज के समान शुष्क नही थी। अगर इस मत को स्वीकार किया जाता है तो राइके का अनुमान और फेयर सर्विस का निष्कर्ष अर्थहीन हो जायेगा। दूसरी ओर पोलेन जोन सी के उपकाल बी (१८००–१५०० ई० पू०) के साक्ष्य के अनुसार इस समय जलवायु गिरती गई। यह समय काली-

बगा, मोहनजोदडो, कोटडीजी की कार्बन तिथि से साम्य रखता है। इस समय सैन्धव सभ्यता पतोन्मुख थी। इसका कारण निर्जलीकरण और शुष्कता मे बढ़ोतरी थी। राइके के साक्ष्य से भी निष्कर्ष तो यही निकलता है। यह भी सम्भव है कि आर्य या पूर्वी ईरान और पश्चिमी एशिया के लोग जैसा पात्र प्रतीको से स्पष्ट है—इस क्रमिक पतन मे सहायक हुए हो। यहा यह स्मरणीय है कि प्राक् सैन्धव सस्कृति मे ईरानी तत्त्व विद्यमान हैं।

यह तो स्पष्ट है कि २५०० ई० पू० मे सरस्वती दृषद्वती की घाटी आबाद थी। लेकिन इसे आबाद करने वाले लोग कौन थे ? सैन्धव लिपि के पढे जाने तक इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। लेकिन ये सैन्धव किसी प्रकार की बलि देते थे और प्राक् सैन्धव युग के कुछ लोग ईरान से आए थे, इसलिए यह सम्भव है कि सरस्वती की घाटी के सैन्धव या प्राक् सैन्धव या दोनो ही आर्यो की शाखाओ से सम्बद्ध रहे हो। वास्तव मे आर्यों की समस्या अभी भी सुलझी नही है बल्कि राजस्थान, सिंध, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के साक्ष्य से और उलझ गई है।

राजस्थान मे सैन्धवोत्तर कुछ नयी सस्कृतियाँ प्रकाश मे आई हैं। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान मे आहाड, गुलुण्ड तथा अन्य लगभग ५० स्थानो से ऐसे लोगो के अवशेष मिले हैं जो विशेष प्रकार के काले-लाल रग के पात्र, मिट्टी के घर, तथा सिल बट्टे और ताम्र उपकरणो का प्रयोग कर रहे थे। अग्रवाल ने आहाड को इस पात्र परम्परा के रग के आधार पर इसे ब्लैक एण्ड रेड पात्र सस्कृति कहा था। इस प्रदेश मे एकदम इस नई सस्कृति का जन्म कैसे हुआ ? अगर भौगोलिक दृष्टि से विचार करे तो परिवेश का आकर्षण इसका कारण प्रतीत होता है। उदयपुर का यह भाग तीन ओर से पर्वतो से घिरा है जिसमे आवागमन के लिए कुछ घाट बने हैं जिनमे हल्दी घाट सबसे प्रसिद्ध है। उत्तर पूर्व का खुला भाग चम्बल और यमुना की घाटी की ओर है। इसलिए अतीत मे इसी भाग से तथा घाटो के मार्ग से लोगो ने यहा शरणार्थी या विजेताओ के रूप मे प्रवेश किया। ऐतिहासिक युग मे ८वी शती मे वलभि से गुहिलो तथा उसके बाद ६०० वर्षों तक इस प्रदेश का सुसोदिया लोगो ने लाभ उठाया। परन्तु अब आहाड के उत्खनन से स्पष्ट हो गया है कि २००० ई० पू० भी लोग यहा रहते थे। इन लोगो ने इस प्रदेश की खोज कैसे की यह अज्ञात है। हो सकता है प्रदेश की उर्वरता तथा ताम्र का आकर्षण इन्हें यहा ले आया हो। जो भी हुआ हो इन लोगो ने आहाड के किनारे बसकर परिवेश का पूरा लाभ उठाया और लगभग १५०० वर्ष तक यही रहते रहे। इन लोगो ने उत्तर-दक्षिण मुखी शीष्ट के चबूतरे वाले बडे घर बनाए। उत्खनन मे इन घरो मे आवश्यकता की सभी वस्तुए-पात्र, चूल्हा, सिलबट्टा प्राप्त हुई हैं। सम्भवतः ये लोग लकडी की चौकी भी प्रयोग मे लाते थे जो समय के लम्बे व्यवधान मे समाप्त हो गई। यहा से उपलब्ध पात्र विशेष तकनीक के द्वारा दो बार पकाकर बनाए गए हैं जिससे इन्हें लाल और कालारग प्राप्त हुआ। पात्रो की काली पृष्ठभूमि पर सफेद चित्र भी बनाए गए हैं। १५०० वर्षों तक

पात्र की बनावट तथा रग परिवर्तित न होने के पीछे जातीय, धार्मिक या क्षेत्रीय कारण रहा होगा। यह पात्र आहाड के अतिरिक्त लगभग ५० स्थानो से मिला है। एक समय यह विचार था कि यह पात्र विशेष ही इस सस्कृति का वैशिष्ट्य है। परन्तु १९६१-६२ के साक्ष्य से स्पष्ट हो गया कि आहाड निवासी इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के पात्र भी प्रयुक्त करते थे। गुजराती मे जिन पात्रो को 'पनियारू' कहा जाता है जो आधे जमीन मे दबे रहते हैं, वैसे पात्र भी मिले हैं। आहाड पात्र के अलकरण की तुलना लेखक ने भील महिलाओ के वस्त्रो पर बनी छीट से की है। आशा है ये लोग चावल और ज्वार खाते थे। लेखक के अनुसार सिलवट्टे का साक्ष्य गेहूँ की उपस्थिति का परिचायक है। पशुओ मे आहाडवासी भेड, गाय, वृषभ, सुअर, मछली तथा कछुए से परिचित थे। चूल्हे का वडा आकार वडे परिवार का सकेतक है। ताम्र की ५ कुल्हाडिया, ताम्र का मैल इस बात का प्रमाण है कि इनका एक वर्ग ताम्र के उपकरण बनाता था। परन्तु ताम्र ढालने मे कुशल होते हुए भी उनकी तकनीक बहुत विकसित नही थी। क्या ये लोग ताम्र उपकरण बनाकर बाहर भी निर्यात करते थे? अन्य स्थलो से प्राप्त उपकरणो के ताम्र का विश्लेषण होने तक कुछ भी नही कहा जा सकता। आहाड के पात्रो को कुछ लोग आर्यों से सम्बद्ध करते है क्योकि इसके कुछ आकार सैन्धव पात्रो से मिलते जुलते है। लेखक इन्हे पार्जिटर के साक्ष्य पर यादव देश का निवासी मानता है। परन्तु यह केवल परिकल्पना मात्र है। लेखक को कुछ पात्रो, मूर्तियो और मनको पर विदेशी प्रभाव भी दिखाई देता है। जलवायु परिवर्तन से धीरे-धीरे यहा की बस्ती उजड गई केवल धूल शेष रही। आज भी इस स्थान को 'धूलकोट' कहते है। लेकिन यह स्मरणीय है कि यहा चौथी-५वी शती ई० पू०—लौह युग के उदय तक पात्रो मे कुछ परिवर्तनो के साथ मानव की उपस्थिति के प्रमाण मिलते रहे।

इसके विपरीत सरस्वती घाटी मे स्पष्टत व्यवधान है। यहा सैन्धव सभ्यता का पतन होता गया परन्तु इसके बाद क्या हुआ—कुछ हुआ भी कि नही, कुछ भी स्पष्ट नही है। सैन्धवो के विलोप का भी स्पष्ट कारण ज्ञात नही है। सम्भवत कई शती तक सरस्वती के सूखे रहने के कारण बस्ती का लोप हो गया। व्हीलर ने इस विलोप का कारण आर्यों का आगमन सुझाया था। सैन्धवो के विलोप का प्रश्न आज भी समस्या है। १९५१-५२ मे घोष के सर्वेक्षण से इस प्रदेश मे कुछ अन्य सस्कृतियो के अस्तित्व के साक्ष्य मिले। घोषने देखा कि पेंटिड-ग्रे-पात्रो तथा ब्लेक एण्ड रेड-पात्रो के निर्माताओ ने सैन्धव अवशेषो के स्थान पर उनसे कुछ दूर हट कर बस्ती स्थापित करना उचित समझा। इन स्थलो मे सरदारगढ जैसे स्थलो के उत्खनन से यह देखा गया कि इन सस्कृतियो के लोग पूर्व सस्कृतियो की अपेक्षा गरीब थे। अभाग्यवश इस प्रदेश मे पेन्टिड-ग्रे-पात्र स्थल का पूर्ण उत्खनन नही हुआ है इसलिए चित्र स्पष्ट नही है परन्तु अतरजीखेडा, हस्तिनापुर और राजस्थान मे लोह के साक्ष्य है कि ये लोग लोह, से परिचित थे। अन्य अन्नो के साथ चावल भी भोजन मे सम्मिलित था। पशुओ में

ये गाय, वृषभ तथा अन्य पशु पालते थे। अश्व से भी परिचित थे। ये सभी लक्षण विशेषत: अश्व से परिचय तथा पेन्टिड-ग्रे-पात्र स्थलो का महाभारत मे उल्लेख बी बी लाल के अनुसार आर्यों की ओर सकेत करते है। इसलिए १९५४-५५ मे वे मानते थे कि ये आर्यों की पहली शाखा से सम्बद्ध हैं। लेकिन १९५४-५५ के बाद अब तक स्थिति मे बहुत परिवर्तन आया है। अब हस्तिनापुर तथा अहिच्छत्रा की कार्बन तिथि छठी-सातवी शती ई० पू० निश्चित है। केवल अतरजीखेडा की एक तिथि ११०० ई० पू० है। दूसरे, अन्य प्राचीन सस्कृतियो के अवशेष अब पजाब और उत्तर प्रदेश से मिल चुके है। तीसरे, अब सैन्धव सभ्यता के पतन की तिथि १७०० ई० पू० स्वीकृत है। इसलिए सैन्धव सभ्यता के पतन और उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश मे ऐतिहासिक राज्यो के उदय के मध्य बहुत बडा व्यवधान है जिसे पेन्टिड ग्रे-पात्र सस्कृति के द्वारा नही भरा जा सकता। यह सस्कृति ऐतिहासिक युग के कुछ पूर्व की है। अलीगढ की गोष्ठी मे इसका समय आठवी शती ई० पू० से लेकर छटी शती ई० पू० निश्चित हुआ था। अगर इसका सम्बन्ध आर्यों से है तो वह उनकी परवर्ती शाखा होनी चाहिए। क्या राजस्थान के प्राक् सैन्धवो का आर्यों से कुछ सम्बन्ध था ? ऐसी समस्याए अभी ऐसी ही छोड देनी चाहिए क्योकि अभी नवदाटोली और मालवा से भी प्राक् सैन्धव बस्तियो का पता चला है ये लोग भी सैन्धवो द्वारा स्थानान्तरित किए गए थे।

प्राय. पुरातत्त्वविदो की यह धारणा रही है कि सैन्धवोत्तर सस्कृतियो का बाहर से आगमन हुआ। परन्तु लेखक ने आहाड के अवशेषो और वर्तमान भीलो के आवासो मे आश्चर्यजनक साम्य देखकर यह भी विचारने का प्रयास किया है कि क्या इन सस्कृतियो को स्थानीय आदिवासियो से किसी प्रकार भी सम्बद्ध किया जा सकता है ?

इस प्रकार राजस्थान के तीनो भागो मे पुरातत्त्व के आधार पर मनुष्य के प्रादुर्भाव और विकास का धुधला-सा चित्र बनता है। मनुष्य के अवतरण के समय भूगोलिक स्थिति और जलवायु की दृष्टि से तीनो ही भागो मे सर्वथा पृथक्-पृथक् स्थितिया थी। मनुष्य के विकास की लगभग सभी स्थितियो का साक्ष्य दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान से प्राप्त हुआ—अर्थात् प्रस्तर युग से लेकर ऐतिहासिक युग तक। जबकि पश्चिमी राजस्थान मे हमे विकास की दूसरी और किसी सीमा तक तीसरी स्थिति ही ज्ञात है। उत्तरी राजस्थान मे विकास की पहली तीन अवस्थाए ज्ञात नही है अचानक यहा नगर सभ्यता का उदय होता है और अचानक ही यह सभ्यता समाप्त भी हो जाती है। इसके बाद कृषक सस्कृतियो का जन्म होता है जिन्हे नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से किसी प्रकार भी "सभ्यता" नही कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी लोग बाहर से आकर रहने लगे थे।

शिवकुमार गुप्त
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पुस्तक समीक्षा

# हिस्ट्री आफ टीपू सुल्तान

**लेखक मोहिब्बुल हसन, कलकत्ता, १९७१, पृष्ठ ४४२**

१९५१ मे जब प्रोफ़ेसर मोहिब्बुल हसन कृत हिस्ट्री आफ टीपू सुल्तान का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ तो उसका सारे विद्वत् जगत मे स्वागत किया गया। इसे १८वी शती के अन्त का निष्पक्ष और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ माना गया जो अधिकतर अप्रकाशित सामग्री पर आधारित था। १८वी शती के अन्त के भारतीय इतिहास मे इसका बहुमूल्य योगदान है। वस्तुत यह टीपू सुल्तान की जीवनी पर सबसे उत्तम ग्रन्थ है जो उसके कार्यकलाप, व्यक्तिगत चरित्र, नीतियो और उपलब्धियो पर प्रकाश डालता है। यह १७८२–१७९९ के मैसूर के इतिहास पर सबसे अधिक सुसगत पुस्तक है।

मैसूर के इतिहास के सम्बन्ध मे अग्रेज इतिहासकारो की रचनाओ के दोष स्वत: स्पष्ट थे। एम विल्क्स कृत हिस्ट्री आफ मैसूर का, जो सेरिंगापटम के पतन पश्चात् प्रकाशित हुई थी, या इसका सार रूप मे प्रकाशन वौरिंग कृत **हैदर अली एण्ड टीपू सुल्तान** मे हुआ था, भारतीय शासको के प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण नही था। प्रो० हसन का ऐसे मतो से तथा उन हिन्दू-मुस्लिम इतिहासकारो से जो टीपू को धर्म के सरक्षक और मुस्लिम जगत के नेता के रूप मे गौरवान्वित करते हैं कोई सरोकार नही है।

प्रो० हसन कृत हिस्ट्री आफ टीपू सुल्तान मूल स्रोतो के आधार पर लिखित एक मौलिक रचना है। इन्होने न केवल अग्रेजी तथा फ्रासीसी के अनेक सरकारी प्रमाणो का, वल्कि फारसी की उपयुक्त सामग्री का भी अध्ययन किया है। १९७१ मे प्रकाशित इसके सशोधित सस्करण मे प्रथम सस्करण की सभी विशेषताए मौजूद हैं। इसके साथ-साथ इस नवीन सस्करण मे काफी सुधार और विस्तार भी किया गया है। प्रथम सस्करण और द्वितीय सस्करण के मध्य २० वर्ष के अन्तराल मे लेखक इगलैड, फ्रास तथा भारत मे अधिक सामग्री एकत्रित करने मे व्यस्त रहा। इनमे कुछ निजी दस्तावेज भी शामिल हैं जिनका अधिक महत्व है। नए स्रोतो के प्रकाश मे आने से लेखक नियमित रूप से अपने निष्कर्षों और मान्यताओ का मूल्य और पुनर्मूल्याकन करता रहा। इस सशोधित सस्करण मे लेखक ने न केवल टीपू सुल्तान का विस्तृत अध्ययन और अपने प्रथम सस्करण की कुछ कमियो को दूर

किया है, वल्कि उस सस्करण के गलत व्यक्तव्यो और मन्तव्यो का खण्डन किया है जिनका नई सामग्री के प्रकाश मे आने और अध्ययन करने बाद परिवर्तन करना आवश्यक था। अध्याय-योजना पूर्ववत है। प्रथम सस्करण मे ३८३ पृष्ठ थे जब कि इस सस्करण के पृष्ठो की सख्या ३८८ हो गई है। इस दृष्टि से इसका कोई विस्तार नही किया गया है, हा इतना अवश्य है कि इसमे काफी सुधार किया गया है।

इस विषय पर अनेक पुस्तके प्रकाशित हुई हैं, किन्तु स्तर और आयाम की दृष्टि से वे प्रो० हसन की पुस्तक से तुलना मे फीकी जान पडती है। सुब्रय्या गुप्त कृत न्यू लाइट आन टीपू सुल्तान (१९६७) केवल इस दृष्टि से नई है कि इसमे टीपू के उस धर्मस्व को प्रकाश मे लाया गया है जो उसने हिन्दु सस्थाओ को दिया था। प्रो० हसन के सशोधित सस्करण मे इस तथ्य का समुचित प्रयोग किया गया है। डेनिस फारेन्ट कृत टाइगर आफ मैसूर-द लाइफ एण्ड डेथ आफ टीपू सुल्तान (१९७०) अधिकतर टीपू की जीवनी है, और न यह अध्ययन उपलब्ध स्रोतो पर आधृत है। यह सरकारी स्रोतो पर आश्रित है और इसमे निजी दस्तावेज, फारसी और मराठी के स्रोतो का अध्ययन नहीं किया गया है।

इस पुस्तक के अध्ययन से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उभर कर सामने आते है। इस समीक्षा मे चार प्रश्नो पर विचार किया गया है। प्रथमत फ्रासीसियो को भारत मे आमन्त्रित करने के टीपू के प्रयास। इस प्रश्न पर प्रो० क० आन्तोनोवा कृत द स्ट्रगल आफ टीपू सुल्तान अगेंस्ट ब्रिटिश कोलोनियल पावर (मास्को) मे प्रकाशित छ दस्तावेजो के माध्यम से कुछ प्रकाश डाला गया है। ये हमे टीपू के उन प्रयासो के विषय मे बताते हैं जो १९७३ मे फ्रास के साथ हुए आक्रमणात्मक और सुरक्षात्मक गठजोड से शुरू हुए थे। प्रो० हसन ने इन दस्तावेजो का अध्ययन किया है। इसमे कोई सन्देह नही है कि टीपू ने १९७२ की सेरिंगापटम की सधि के बाद फ्रासीसियो के साथ सम्पर्क स्थापित किया था तथा फ्रास उपद्वीप मे एक राजदूत भेजकर कुछ फ्रासीसी सैनिक सहायता भी ली थी। लेकिन इसमे कुछ गलती नही थी। एक स्वतत्र राजा के रूप मे टीपू को यह अधिकार था कि वह किसी भी शक्ति से गठजोड करे। अत अग्रेजो का इस आधार पर मैसूर पर आक्रमण करना न्यायोचित नहीं था।

दूसरा प्रश्न है अग्रेजो के विरुद्ध टीपू सुल्तान की देशी शक्तियो-मराठा और निजाम-के साथ गठजोड करने मे असफलता। इन शक्तियो से शत्रुता इसके पिता हैदरअली की विस्तारवादी नीति की वजह से हुई थी। प्रो० हसन इस सम्बन्ध मे टीपू का पक्ष लेते हुए कहते है कि उसके लिए यह सभव नही था कि वह अपने पिता द्वारा जीते गए प्रदेशो का समर्पण कर सके क्योकि इससे मैसूर तीसरे दर्जे की शक्ति [illegible] जाता। फिर भी यह कहा जा सकता है कि जिन परिस्थितियो में अग्रेजो ने उसे अपना सबसे बडा शत्रु माना और सचमुच वह था भी, उस समय यदि देशी शक्तियो

के साथ सम्बन्ध सुधारने के प्रयासो ने टीपू सुल्तान को एक दूरदर्शी राजनेता के रूप में उभारा होता। प्रो० हसन ने यह स्वीकार किया है कि टीपू कुशल राजनेता नही था। यह भी कहना उचित है कि मराठा और निजाम भी मैसूर के सम्बन्ध मे अदूरदर्शी तथा स्वार्थपरक नीति के शिकार थे।

राजनयिक प्रश्नो के अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि क्या टीपू ने आधुनीकरण किया था। प्रो० हसन इस सम्बन्ध मे टीपू के समर्थक हैं और इस तथ्य की पुष्टि मे उन्होने अनेक उदाहरण दिए हैं। योरोपीय व्यापारिक फक्ट्रियो के आधार पर टीपू ने भारत और विदेश मे व्यापारिक फैक्ट्रियाँ स्थापित की थी। ऐसी दो फैक्ट्रियाँ कच्छ और ओर्मज पर तथा जेद्दाह और मास्कट मे थी। टीपू ने तकनीकी तथा औद्योगिक प्रगति का महत्व समझते हुए इस दिशा मे योरोपियनो की नियुक्ति की। इनमे अधिकतर फ्राँसीसी थे। एक फ्रासीसी इजिनियर ने एक इजन का निर्माण किया जो पानी की सहायता से तोप को वेधता था। टीपू ने प्रशासन का भी आधुनीकरण किया। डाडवेल के अनुसार "वह भारत का प्रथम प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति था जिसने अपने प्रशासन मे पश्चिमी पद्धति प्रयोग करने की कोशिश की थी"। आधुनीकरण के क्षेत्र मे स्टेट सोशलिज्म उसका अन्य उपादान था। उसने राज्य का एकाधिकार कच्चे सोने, तम्बाकु, चन्दन की लकडी, नारियल, कालीमिर्च, टीक लकडी, बहुमूल्य धातुओ और हाथियो पर स्थापित किया। इसके अलावा राज्य मे राजकीय बैंक तथा राजकीय दुकानें भी थी।

प्रो० हसन का चौथा प्रश्न है क्या टीपू भारत की आजादी के लिए जूझने वाला एक राष्ट्रीय प्रशासक था। कुछ लेखको ने उसे राष्ट्रीय वीर तथा भारतीय स्वतन्त्रता के शहीद की सज्ञा से अभिहित किया है। प्रो० हसन का यह कहना उचित है कि उस समय "राष्ट्रीय शासक" जैसी कोई चीज थी ही नही, अत राष्ट्रीय आजादी के लिए जूझने का प्रश्न नही उठता था। वह तो अग्रेजी खतरे से अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सघर्ष कर रहा था। चाहे उसे यह आभास था कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता खतरे मे है, किन्तु उसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करने की उदात्त भावना से पूरित नही माना जा सकता।

टीपू को सकुचित दृष्टिकोण वाले या धर्मान्ध शासक के रूप मे स्वीकार करना भी उचित नही होगा। डाडवेल तथा एस० एन० सेन ने उचित ही कहा है कि उसका कुछ गैर-मुसलमानो के प्रति कठोर रवैया राजनीतिक कारणो से था न कि धार्मिक कारणो से। प्रो० हसन इस मत से सहमत हैं और उन्होने यह स्पष्ट किया है कि टीपू ने बहुत से हिन्दुओ को सरकार के ऊचे पदो पर नियुक्त किया था, उन्हें धार्मिक पूजा-पाठ की आजादी दी तथा मन्दिरो और ब्राह्मणो को अनुदान मजूर किया और कभी-कभी किसी मन्दिर के निर्माण का आदेश भी दिया।

असन्दिग्ध रूप से टीपू एक महान शासक था। प्रो० हसन की पुस्तक न केवल इतिहास के विद्यार्थियो द्वारा बल्कि उन सब प्रवुद्ध व्यक्तियो द्वारा पढी जानी

चाहिये जो उन भारतीय नरेशो के इतिहास मे रुचि रखते हैं जो अग्रेजी विस्तार की भारत मे बढती हुई शक्ति से अपने राज्य को स्वतन्त्र रखने के लिए सघर्ष कर रहे थे। बाद मे रणजीतसिह के नेतृत्व मे पजाब एक ऐसा दूसरा उदाहरण है जहाँ एक देशी शक्ति ने अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए एक महान विदेशी शक्ति के विरुद्ध सघर्ष किया था।

प्रो० हसन ने टीपू सुल्तान तथा उसके युग के विषय मे एक बहुत स्पष्ट, सम्यक, निष्पक्ष तथा सटीक चित्र प्रस्तुत किया है।

अम्बा प्रसाद
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

# कुछ सद्य प्रकाशित ग्रन्थ


अग्रवाल, डी० पी० — कॉपर ब्रोज एज इन इण्डिया, मुशीराम मनोहरलाल दिल्ली, १९११, पृष्ठ २६०, मूल्य ५५ रुपये

अब्दुल हमीद — मुस्लिम सेपरेशन इन इण्डिया (ए ब्रीफ सर्वे) आक्सफोर्ड यूनी० प्रेस लाहौर, १९११, पृ० २६४, मूल्य १ ९० डालर

उपाध्याय, के० एन० — अर्ली बुद्धिज्म एण्ड भगवद्गीता, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९११, पृ० ५५८, मूल्य ५० ००

एलिसोफेन इ० तथा वाट्स, ए० — दि टेम्पिल आफ कोणार्क एरोटिक स्प्रिरिचुएलिटी, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९११, मूल्य ७५'००

कुमारस्वामी, ए० के० — दि आर्टस एण्ड क्राफ्ट्स आफ इण्डिया एण्ड सीलोन, (पुनर्मुद्रित) टू डे एण्ड टूमारो, दिल्ली, १९११, पृ० २५२, मूल्य ६०'००

गेसकोगने, बी० — ग्रेट मुगल्स, बी० आई० पब्लिकेशन, दिल्ली, १९७१, पृ० २६४, मूल्य ९० ००

गोखले, बी० जी० — इमेजिज आफ इण्डिया, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, १९७१, पृ० १९६, मूल्य ३० ००

गुप्ता, आर० अल० — कन्फिक्ट एण्ड हारमोनी ( इण्डो ब्रिटिश रिलेशन्स,) त्रिमूर्ति पब्लिकेशन, दिल्ली १९७१, पृ० ११४, मूल्य २०'००

गुप्त, ए० (स०) — सैन्ट्रल एशिया (मूवमेन्ट आव पीपल्स एण्ड आइडियाज, फ्राम टाइम्स प्रिहिस्टोरिक टू माडर्न) विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७१, पृ० ३२१, मूल्य २५ ००

चटर्जी, एच० — दि ला आफ डेब्त इन इन्शीयेन्ट इण्डिया, सस्कृत कॉलेज रिसर्च सीरिज, कलकत्ता, १९७२, पृ० ४५०, मूल्य २५ ००

चौधरी, ए० के० — अर्ली मेडिवल विलेज इन नार्थ इस्टर्न इण्डिया, (ए० डी० ६००–१२००) पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता, १९७१, पृ० ४४१

चटर्जी, एच० — स्टडीज इन दि सोशल बैकग्राउण्ड आफ दि फार्मस आफ मैरिज एन एन्शीयेन्ट इण्डिया, सस्कृत कालेज, रिसर्च सीरिज, कलकत्ता, १९७२, पृ० ३५०, मूल्य ४५ ००

जैन, कैलाशचन्द्र — मालवा थ्रू दि एजेज, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१, पृ० ५५५, मूल्य ६० ००

जैन, पी० — लेबर इन एन्शीयेन्ट इण्डिया, ( फ्राम वैदिक एज अप टू दि गुप्ता पीरियड ) स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली १९७१, पृ० २०६

जोन, जी० — विक्ट्री एट बे, ( लार्ड लिन्लिन्थगो इन इण्डिया– १९३६–१९४३) १९७१

डोफिन्स, के० डब्ल्यू० — दि स्तूप एण्ड विहार आफ कनिष्क फर्स्ट, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९७१, पृ० ९२

दास, एस० आर० — आर्केलाजिकल डिस्कवरीज फ्राम मुर्शीदाबाद, पार्ट १ एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९७१, पृ० ७० मूल्य २० ००

दोनगेरकरी, के० — ज्वेलरी एण्ड पर्सनल एडोर्नमेन्ट इन इण्डिया, विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७१, पृ० १७५, मूल्य १०० ००

पाण्डे, एल० पी० — सन वर्शिप इन एन्शीयेन्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७१, पृ० ४४०, मूल्य ५० ००

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र — दि मीनिंग एण्ड प्रोसेस आफ कल्चर, आगरा, १९७२, पृ० १७९, मूल्य १५ ००

पामेर, जे० ए० बी० — मेरठ मे १८५७ के विद्रोह का आरम्भ, अनु० १९७१

पाटिल, एच० एस० तथा वीना रानी (स०) — हिस्ट्री एण्ड कल्चर, सलेक्ट बिबलियोग्राफी, विकास पब्लिशिंग, दिल्ली, १९७१, पृ० २१६, मूल्य २५ ००

प्रिंसेप, जे० (स०) — एस्सेज आन इण्डियन एन्टिक्विटीज, ( पुनर्मुदित ) २ वाल्यूम, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९७१ पृ० ४३५, ३३६

पालिवाल, डी० एन० — मेवाड एण्ड दि ब्रिटिश, ( १७५७–१९२१ ) वाफना प्रकाशन, जयपुर, १९७१, पृ० ३०४, मूल्य २८ ००

| | |
|---|---|
| पुरी, बी० एन० | स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९७१, पृ० २८५, मूल्य १० ०० |
| पोलार्ड, सिडनी | आइडिया आफ प्रोग्रेस ( हिस्ट्री एण्ड सोसायटी ) १९७१ |
| फ्रान्सिस, जी० एच० | स्पान्टेनियस रेवोलूशन, दि क्विट इण्डिया मूवमेन्ट, १९६१ |
| फेडरिक, एम० | हिस्टोरिशिज्म दि राइज आफ न्यू हिस्टोरिकल आउट लुक, (अनु०) जे० ई० एडरसन, १९७२ |
| बनर्जी, पी० | अर्ली इण्डियन रिलीजन्स, विकास पब्लिशिंग, दिल्ली, १९७२, पृ० २१६, मूल्य २५ ०० |
| बालासुब्रह्मण्यम्, एस० आर० | अर्ली चोल टेम्पल्स, ओरियेन्ट लागमेन्स, १९७१, कलकत्ता, पृ० ३५१, मूल्य ५० ०० |
| बोस, अरुन कुमार | इण्डियन रेवोलूशनरीज एब्रोड, ( १९०५-१९२२ ) इन दि बैकग्राउण्ड आव इन्टरनेशनल डबलपमेन्ट्स, १९७१ |
| भार्गव, पी० एल० | इण्डिया इन दि वैदिक ऐज, दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९७१, पृ० ३९६, मूल्य ५० ०० |
| भट्टाचार्य, एन० एन० | हिस्ट्री आफ इण्डियन कोस्मोगोनिकल आइडियाज, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९७१, मूल्य २२ ०० |
| भट्टाचार्य, एस० के० | कृष्णकल्ट, एसोशियेटिड पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७२, पृ० २००, मूल्य ४०.०० |
| भटनागर, वीरेन्द्रस्वरूप | सवाई जयसिंह, जयपुर, १९७२, पृ० २१८, मूल्य १०.०० |
| मजूमदार, आर० सी० | हिस्ट्रीरियोग्राफी इन मॉडर्न इण्डिया, १९७० |
| मस्टबॅग, एच० | जैन एण्ड ओरियेन्टल आर्ट, ( रिप्रिन्ट ) चार्ल्स ई० टूडिल कम्पनी, जापान, पृ० १५८ |
| मार्शल, जे० | तक्षशिला, ३ खण्ड (पुर्नमुद्रित) मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७१, पृ० ४२०, ५१८, २६४ |
| मुखर्जी, बी० एन० | दि पारदाज, पिल्ग्रिम पब्लिशर्स, कलकत्ता, १९७२, पृ० १४९, मूल्य २५ ०० |

| | |
|---|---|
| मुरें, मिचल के० | मॉडर्न फिलोसफी ग्राव हिस्ट्री (इट्स ग्रारिजिन एण्ड डेस्टिनेशन) हेग, १९७०, पृ० १३७, मूल्य १८ ०० |
| मेकेन्जी, डोनल्ड, ए० | इण्डियन मिथ एण्ड लीजेण्ड ( पुनर्मुदित ), सोना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९७१, पृ० ४६३, मूल्य ४०० ०० |
| मेहुता, जे० ग्रार० जे | मास्टर पीसिस ग्राफ इण्डियन ब्रोन्जिज एण्ड मेटल स्कल्पचर्स, डी० बी० तारपोरावाला, बम्बई, १९७१, पृ० ४६ |
| मैकडाक, शील (स०) | मोइम्मद ग्रली जिन्ना (मेकर ग्राफ पाकिस्तान) १९७० |
| मोहन, रार्बट पाल | फिलासफी ग्राव हिस्ट्री, एन इन्ट्रोडक्शन, न्यूयार्क, १४७०, पृ० १७७, मूल्य ३ ५० पौण्ड |
| रागिनी देवी | डान्स, डाइलेक्ट्स ग्राफ इण्डिया, विकास पब्लिशिंग, दिल्ली, १९७१, पृ० २२४, मूल्य ९५ ०० |
| राव, बी० के० गुजरा | दि मेगालिथिक कल्चर इन साउथ इण्डिया, युनीवर्सिटी ग्राफ मैसूर, १९७२, पृ० ३८९, मूल्य ४० ०० |
| रेना, के० एन० तथा गोपालरत्नम् | तेजबहादुर सप्रू, १९७१, पृ० २८०, मूल्य ३० ०० |
| लीच, इ० ग्रार० | ग्रास्पेक्ट्स ग्राफ कास्ट इन इण्डिया, सिलोन एण्ड नार्थ वेस्ट पाकिस्तान, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९७१, पृ० १४८ |
| वार्डर, ए० के० | इन्ट्रोशक्शन टू इण्डियन हिस्टोरियोग्राफी, यूनीवर्सिटी ग्राफ टोरन्टो, १९७२, पृ० १४६, मूल्य ३६ ०० |
| वाल्श, एम० ग्रो० सी० (स) | पाथवेज ग्राफ दि बुद्धिस्ट थाट, एस्सेज फ्राम दि ह्वील, जार्ज ऐलन एण्ड एल्विन लि०, लदन, १९७१, पृ० २५६, मूल्य ३ ४० डालर |
| वर्मा, टी० पी० | दि पेलियोग्राफी ग्राफ ब्राह्मी स्क्रिप्ट इन नार्थ इण्डिया, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१, पृ० १३७, मूल्य ५० ०० |
| वैंकटरमन | ए लेटर चोल टेम्पिल, ग्रोरियन्ट लॉगमेन्स, दिल्ली, १९७१, पृ० ६२, मूल्य ९ ५० |
| विले, जोर्ज | कोन्साइज इन्साइक्लोपीडिया ग्राफ ग्राक्योंलाजी फ्राम दि ग्रोज एज, लोग कालिन्स, १९७०, पृ० २४८ मूल्य २५ ०० |

विद्यालकार, सत्यकेतु — मौर्य साम्राज्य का इतिहास, मसूरी, १९७१, पृ० ७०३, मूल्य १९ ७५

सरकार, डी० सी० — स्टडीज इन दि रीजिजियस लाइफ आफ एन्शीयेन्ट एण्ड मेडविल इण्डिया, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली, १९७१, पृ० २९२, मूल्य ३५ ००

सावरकर, वी० डी० — हिन्दू पद पादशाही, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली, १९७१, पृ० २५२, मूल्य १६.००

सातवलेकर, वी० डी० — सिक्स ग्लोरियस इपोक आव इण्डियन हिस्ट्री, १९७१

सिन्हा, विरेन्द्रकुमार — पिन्डारीज, (१७९८–१८१८), १९७१

सेण्डर, लुईस एल० — ग्रेट टर्निंग पोइन्ट इन हिस्ट्री, १९७१

सिंह, एम० — हिमालयन आर्ट, मैकमिलन क०, १९७१, पृ० २८७

सिंह, मस्तराम — ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि ज्योगरफीकल डेटा इन दि अर्ली पुराणाज, कलकत्ता, १९७२, पृ० ४०५, मूल्य ६० ००

शर्मा, आर० अस० — लेन्ड रेवेन्यू इन इण्डियन हिस्टोरिकल स्टडीज, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७१, पृ० १२९

शशिकान्त — दि हथिगुम्फा इन्सक्रिपशन आव खारवेल एण्ड दि भब्रू इडिक्ट आफ अशोक–ए क्रिटिकल स्टडी, पिन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९७१, पृ० १११, मूल्य २२ ००

शान्तिदेव — शिक्षासमुच्चय, ए कम्पेडियम आफ बुद्धिस्ट डाक्ट्रिन, मोतीलाल वनारसी दास, दिल्ली १९७१, पृ० ३३६, मूल्य ३० ००

हुलधर, जे० आर० — लिंक्स विद्विन अर्ली एण्ड लेटर बुद्धिस्ट माइथोलाजी, फरमा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९७२, पृ० ४५, मूल्य १० ००